ईशावास्योपनिषद्

93387
DBCL
DBCL
294.12 V40E

व्याख्याकारः
हरस्वरूप वाशिष्ठ

HBANDHU COLLEGE
LKAJI, NEW DELHI-110019
LIBRARY
sion No. 93387
. 294.121 V40E
Copy

श्रीभास्याय नमः

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत-काण्वशाखीया

ईशावास्योपनिषद्

कीर्ति व्याख्यया समलङ्कृता

(भूमिका, मूलमन्त्र, प्रसंग, अन्वय, संस्कृत व्याख्या, शब्दार्थ, अनुवाद, हिन्दी व्याख्या, व्याकरण, शाङ्करभाष्य, तथा परिशिष्ट सहित)

SV-2017
DESHBANDHU COLLEGE LIBRARY Kalkaji, New Delhi-19

व्याख्याकार
हरस्वरूप वाशिष्ठ
प्रवक्ता संस्कृत वाङ्मय
राजकीय महाराणा संस्कृत कॉलेज
उदयपुर (राज.)

हंसा प्रकाशन
जयपुर।

93387
294.12
V40E

निषद
: 978-81-88257-00-1
: हंसा प्रकाशन
57 नाटाणी भवन,
मिश्रराजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार,जयपुर–302001
: 2013
93387
DBCL
: 50.00
कार : प्रकाशकाधीन
सेटिंग : डिलाइट कम्प्यूटर्स,जयपुर
: शीतल आफसेट,जयपुर

समर्पण

जिन्होंने अपनी आशीर्वादमयी ज्ञानाञ्जनशलाका से चक्षुरुन्मीलन कर अज्ञानान्धकार का अपनोदन करते हुये इस जीवन को अपने ज्ञानालोक से आलोकित किया, उन्ही पूज्य गुरुवर **रामप्रकाश भारद्वाज** के कर कमलों में आत्मतत्त्व की कीर्ति का गान करने वाली ईशावास्योपनिषद् की यह **कीर्ति** नाम्नी व्याख्या कृतज्ञतापूर्ण भावों के साथ सादर समर्पित।

विनीत
हरस्वरूप वाशिष्ठ

मङ्गलाचरणम्

॥ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

[illegible]
अद्वैत [illegible] हंसः।
[illegible]
[illegible] कुरुते ॥1॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥2॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥3॥

अभिशंसा

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

इस आप्त वचनानुसार प्रस्तुत **ईशावास्योपनिषद्** कीर्ति व्याख्या ग्रन्थ का अवलोकन किया गया, जहाँ पर व्याख्याकार वत्सस्वरूप श्री हरस्वरूपवाशिष्ठ का प्रयास विशिष्ट व्युत्पत्तिपूर्ण एवम् लोकहृदयानुप्राणित पाया गया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह देखी गयी कि मूल मन्त्रों की व्याख्या शाङ्कर व्याख्यानुप्राणित तथा रामचरितमानसरूप तुलसीप्रसादानुप्राणित है- ''मघवा मूल बिडौजा-टीका'' का अनुसरण नहीं करते हुए व्याख्याकार द्वारा सरलपद्धति से प्रस्थान किया गया, जिससे-

संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।
एकमापातसुभगमन्यदालोचनामृतम् ॥

के अनुसार विविध दृष्टान्तपुरःसर गम्भीर अर्थ की भी समालोचना सहृदय-हृदयहारिणी तथा सामान्य पाठक-जन-मानस-संस्पर्श शालिनी भी बन गयी है।

केवल शब्द एवम् अर्थ की सह अवस्थिति मात्र ही कोई साहित्य नहीं होता, अपितु-

लोको मूलं हि सत्यस्य लोके सत्यं प्रतिष्ठितम्।
लोकाधारस्ततो रक्ष्यः कविनाऽभिनिवेशिना ॥

के अनुसार लोकोपकार तथा लोकोपस्कार भी किसी साहित्य अथवा व्याख्या-टीका का भी मूल उद्देश्य होना चाहिये तदनुसार व्याख्याकार **श्री वाशिष्ठ द्वारा** अनुकरणीय रमणीय प्रयत्न किया गया है जिससे मूल ग्रन्थ एवं टीका ग्रन्थ **में परस्पर** शोभा शालिता का मणिकाञ्चनसंयोग बन गया है जैसे कहा भी है-

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥
ईशावास्यसमुद्भूता कीर्तिर्वाशिष्ठभागियम्।
गौरिव भातु वाशिष्ठी रामरागानुरञ्जिता ॥

प्रो. लक्ष्मीनारायण आसोपा
साहित्य-व्याकरणाचार्य, एम.ए.
प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष (साहित्य विभाग)
राजकीय महाराणा आचार्य संस्कृत कॉलेज
उदयपुर (राजस्थान)

सम्मतिः

उपनिषद्युपनिषीदतोपनिषत्सु सत्सु मतिमत्सु सुमतिनाऽधिगतसमज्ञतया तया समज्ञया सकले सकलेऽसारेऽस्मिन् संसारे संजीव्यते सारदाशारदासमाराधनसंसक्तस्वान्तेन केनापि। संसारसारमारपारनारनिपुणेन नीतिकारेण निगदितं नीतिशतके-

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

हरस्वरूपवाशिष्ठेन इदम्प्रसंगसंगं संगच्छता वेदान्तविद्याविद्योतितान्तः **करणेन** वैयाकरणेन वै या करणेन कीर्तिकीर्तिः कीर्तिरात्मजा प्राख्यापि व्याख्यापि **सातत्येन** साऽऽयतिकालेऽपि सम्प्रसरितेति मे भवत्वदोऽभिलाषः। विद्वद्वुद्धेनोद्धवो **विदुषां** व्यधायि व्याख्यायेशावास्योपनिषदम्, येनोपलब्धिरूपलब्धेः स्यात् सततं सताम्। सहैव च मनीषिमण्डलमचर्चिका चर्चयतु चर्चयोपनिषदमिमाम्।

को विदं कोविदं कारयतु, रमयोमया मया सहितः सहितः केशवः शिवः **शिवं विदध्यादितिशम्।**

प्रभो प्रसादात् प्रतिभाप्रभैव

काचित् कदाचिन् नियुनक्ति कञ्चित्।

हर स्वरूपं विनिधाय रूपं

वेदान्तकीर्तिञ्च करोति काव्यम्॥

प्रो. तारा शंकरशर्मा 'पाण्डेयः'
प्राचार्यः
राजकीयमहाराणा-आचार्यसंस्कृतकॉलेजः
उदयपुरम् (राज.)

प्राक्कथन

संसरण शील इस संसार के मानव मात्र को सुख और शान्ति अभिलषित है, तथा इस दिशा में आज मानव निरन्तर प्रयत्नशील भी है। किन्तु उसका यह प्रयत्न सदैव निष्फल रहता है। कारण है आज के इस भौतिकवादी युग में मनुष्य का अज्ञान।

मनुष्य सुख तो चाहता है, किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं कि वास्तविक सुख क्या है ? सुख का मूल आधार क्या है ? आज का भौतिकवादी मनुष्य संसार के विनश्वर पदार्थों में सुख का अन्वेषण करता है । उसका भ्रम है कि शायद सुख की अनुभूति संसार के भौतिक पदार्थों से होती हो। इसी कारण मनुष्य जीवनपर्यन्त धनार्जन कर भौतिक सुख साधनों को संचित करने में लगा रहता है। प्रचुर रूप में संचित सुख साधनों से भी जब मनुष्य को शान्ति की प्राप्ति नहीं होती, तब वह समाज में येन केनापि रूपेण उच्चपदावाप्ति के द्वारा प्रतिष्ठा अर्जित कर मिथ्याभिमान के अंकुर को अंकुरित कर सुखी होने का दिखावा करते हुये परम अशान्ति का जीवन जीता है।

मनुष्य यह भूल जाता है कि मेरी यह जीवन पद्धति मृगमरीचिका के समान है। क्योंकि मनुष्य संसार के जिन पदार्थों से सुख की अभिलाषा करता है, वे सब नश्वर हैं। नश्वर पदार्थों से क्षणिक सुखानुभूति का आभास तो हो सकता है, किन्तु परमानन्दानुभूति सम्भव नहीं। वह तो आत्मज्ञान से ही सम्भव है।

यही कारण है कि प्राचीन काल में नगरीय सकल सुविधाओं से सुदूर वन में निवास करने वाले, नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप पर ब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन, मनन, निदिध्यासन में अवस्थित रहने वाले, ऋषि महर्षियों को जिस परमानन्द की सुखदानुभूति होती थी, उस आनन्द की अनुभूति महलों में निवास करने वाले, स्वर्ग तुल्य जीवन जीने वाले, चक्रवर्ती सम्राट् राजाओं को भी नहीं।

परम सन्त तुलसीदास ने रामचरित मानस में कहा है कि -

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी॥

अर्थात ईश्वर का अंश अविनाशी यह जीव सुख की राशि स्वरूप है। इसलिये सुख को प्राप्त करना, अथवा सुख की ओर आकर्षित होना जीव का स्वभाव है किन्तु जो जीव सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर का अंश है तथा अविनाशी है, वह माया के वशीभूत होने के कारण, अपने अंशी ईश्वर से विमुख होकर सांसारिक विनश्वर पदार्थों में सुख की खोज कर रहा है, यही इसकी परम अशान्ति का कारण है।

जब तक अवयव का अपने अवयवी के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता, तब तक शान्ति सम्भव नहीं। जैसे अवयव स्वरूप नदी का जल अहर्निश गतिशील है, प्रवाह शील है, उसमें स्थितरता नहीं, विश्रान्ति नहीं, क्योंकि वह अपने अवयवी से पृथक् है, किन्तु जब वही जल अपने अवयवी रूप समुद्र में जाकर विलीन हो जाता है, तब वह परम विश्रान्ति को प्राप्त होता है। ठीक यही स्थिति इस जीवात्मा की है।

जब तक यह जीव अपने स्वरूप को विस्मृत कर, मोह माया के वशीभूत होकर, सांसारिक विषयासक्ति युक्त जीवन जियेगा, तब तक परम सुखानुभूति सम्भव नही। वह तो सांसारिक विषयासक्ति को त्याग कर आत्मज्ञान से ही सम्भव है। तथा आत्मज्ञानानन्द की सुखदानुभूति के लिये वेद वेदान्त के रूप में उपनिषदों में वर्णित विषय को हृदयंगम कर तदनुसार जीवन जीना मानव मात्र का कर्तव्य है। क्योंकि उपनिषदीय जीवन पद्धति से ही शाश्वत शान्ति की अवाप्ति सम्भव है, सांसारिक विषय भोगों से नहीं। इसके लिये उस परमशक्ति का आश्रय लेना पढेगा जो शक्ति इस संसार का सृजन, पालन तथा संहार करने में सक्षम है। उस परम तत्त्व के स्वरूप का विवेचन कर मानव हित सम्पादित करना उपनिषदों का मुख्य वर्ण्य विषय रहा है।

उपनिषदों में ''ईशावास्योपनिषद्'' सबसे प्रथम व प्रमुख उपनिषद् है। यह शुक्ल यजुर्वेद संहिता का चालीसवां अध्याय है। इससे पूर्व उन्तालीस अध्याय व्यतीत हो चुके, जिनमें कर्मकाण्ड का विशद वर्णन उपलब्ध है। यह चालीसवां अध्याय ज्ञान काण्ड से सम्बद्ध है।

''ईशावास्योपनिषद्'' शुक्ल यजुर्वेद की ''माध्यन्दिन'' व ''काण्व'' इन दो शाखाओं से सम्बद्ध है। दोनों शाखायों के मन्त्रों में आंशिक अन्तर प्रतीत होता है। यह व्याख्या काण्व शाखा को आधार मानकर लिखी गयी है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ईशावास्य पद से होने के कारण इसका नाम ''ई शावास्योपनिषद्'' रखा गया।

इस उपनिषद् में आत्मतत्त्व के स्वरूप की कीर्ति का गान करने वाली यह **''कीर्ति''** नाम्नी व्याख्या प्रकाशक महोदय श्री ''नाटाणी'' जी के अनुरोध पर विद्वज्जनों के कर कमलों में सादर समर्पित है। इसमें प्रत्येक मन्त्र का प्रसंगान्वय, संस्कृत व्याख्या, शब्दार्थ, अनुवाद, हिन्दी व्याख्या, व्याकरण तथा शाङ्करभाष्य लिखकर अन्त में परिशिष्ट के रूप में मन्त्रों की वर्णानुक्रमणिका, काण्वशाखा तथा माध्यन्दिन शाखानुसार ईशावास्योपनिषद् का मूल पाठ लिखकर, तथा आदि में भूमिका भाग लिखकर इसका सरलीकरण करते हुये इस ग्रन्थ को पाठक- जनोपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है।

आत्मतत्त्व की कीर्ति का गान करने वाली इस **''कीर्ति''** नाम्नी व्याख्या से यदि विद्वज्जन सन्तोषावाप्ति तथा छात्रहित सम्पादित होता है, तो यह मेरे इस ज्ञानयज्ञ का साफल्य होगा।

विदुषामनुचरः

हरस्वरूप वाशिष्ठ
प्रवक्ता संस्कृत वाङ्मय
राजकीय महाराणा संस्कृत कॉलेज
उदयपुर (राजस्थान)

कार्तिक शुक्ल पक्ष
देवप्रवोधिनीएकादशी
सम्वत्-2058
26-11-2001

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i-xxi
उपनिषद् शब्द का अर्थ	i
उपनिषदों का महत्त्व	i
उपनिषदों में वर्णित विषय	iii
ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रों में वर्णित विषय वस्तु	iv
ईशावास्योपनिषद्	
मन्त्र संख्या-1	4
मन्त्र संख्या-2	7
मन्त्र संख्या-3	13
मन्त्र संख्या-4	16
मन्त्र संख्या-5	20
मन्त्र संख्या-6	23
मन्त्र संख्या-7	25
मन्त्र संख्या-8	27
मन्त्र संख्या-9	32
मन्त्र संख्या-10	35
मन्त्र संख्या-11	37
मन्त्र संख्या-12	39
मन्त्र संख्या-13	42
मन्त्र संख्या-14	44
मन्त्र संख्या-15	46
मन्त्र संख्या-16	48
मन्त्र संख्या-17	51
मन्त्र संख्या-18	52

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत सम्बन्धभाष्य	57
शान्ति पाठ	58
मन्त्र संख्या-1 सर्वत्र भवगद्दृष्टि तथा त्यागवृत्ति का उपदेश	4
मन्त्र संख्या-2 देहाभिमानी के लिये कर्म का उपदेश	7
मन्त्र संख्या-3 आत्मज्ञान विहीन जन की निन्दा	13
मन्त्र संख्या-4-5 आत्मा के स्वरूप का वर्णन	16-20
मन्त्र संख्या-6-7 अभेद दृष्टि का निरूपण	23-25
मन्त्र संख्या-8 आत्मा का स्वरूप	27
मन्त्र संख्या-9 विद्या और अविद्या की उपासना का फल	32
मन्त्र संख्या-10 विद्या और अविद्या के फल भेद का वर्णन	35
मन्त्र संख्या-11 विद्या और अविद्या के समुच्चय का फल	37
मन्त्र संख्या-12 सम्भूति और असम्भूति की उपासना का वर्णन	39
मन्त्र संख्या-13 सम्भूति और असम्भूति की उपासना का फल	42
मन्त्र संख्या-14 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय का फल	44
मन्त्र संख्या -15-16 उपासक की अन्तकालीन प्रार्थना	46-48
मन्त्र संख्या -17 मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना	51
मन्त्र संख्या -18 मरणोन्मुख उपासक की मार्ग याचना	54
श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत उपसंहारभाष्य	57
शान्ति पाठ	58

परिशिष्ट

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका	59
काण्वशाखीया ईशावास्योपनिषद्	60
माध्यन्दिनशाखीया ईशावास्योपनिषद्	62

भूमिका

उपनिषद् शब्द का अर्थ

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि- **प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुखोपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण।**

अर्थात् ऋषि महर्षियों द्वारा उपदिष्ट संस्कृत वाङ्मय का एक शब्द तो क्या एक वर्ण भी निरर्थक नहीं है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी विशिष्टार्थ को ध्वनित करता है। इसलिये उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति को देखने से प्रतीत होता है कि यह शब्द भी विशिष्टार्थ का वाचक है।

उपनिषद् शब्द उप एवं नि उपसर्ग पूर्वक विशरण गत्यवसानार्थक **''षद्लृ''** धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। ''षद्लृ'' धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है- विशरण (नाश) गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (अन्त)। अर्थात् वह ज्ञान, जिससे अविद्या का नाश आत्मज्ञान की प्राप्ति तथा दुःखों का अन्त होता हो वह ज्ञान उपनिषद कहलाता है।

इसलिये उपनिषद् शब्द का अर्थ ग्रन्थ विशेष नहीं, अपितु विद्या विशेष समझना चाहिये। उपनिषद् शब्द का सामान्य अर्थ ग्रन्थ विशेष नहीं अपितु विद्या विशेष समझना चाहिये। उपनिषद् शब्द का सामान्य अर्थ भी समीप बैठना है। अतः उपनिषद् शब्द का तात्पर्य है- कि गुरू के समीप बैठकर उस आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करना जिसके द्वारा अज्ञान जन्य भ्रम की निवृत्ति आत्म ज्ञान की प्राप्ति तथा संसार के आवागमन के चक्र से मुक्ति होती हो। अतः ब्रह्म विषयक विद्या को ही उपनिषद् समझना चाहिये।

उपनिषदों का महत्त्व -

सकल वैदिक वाङ्मय तीन भागों में विभक्त है कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, तथा ज्ञान काण्ड। इन तीनों काण्डों में लगभग एक लाख मन्त्र हैं जिनमें 80 हजार मन्त्र

कर्मकाण्ड के हैं 16 हजार मन्त्र उपासनाकाण्ड के तथा 4 हजार मन्त्र ज्ञान काण्ड के हैं। ज्ञानकाण्ड में मूल तत्त्व का विवेचन किया गया है तथा कर्मकाण्ड व उपासना काण्ड से उस परमतत्त्व के स्वरूप को समझने की योग्यता अर्जित होती है। इसलिये उक्त दोनों काण्डों को साधन तथा ज्ञान काण्ड को साध्य कहा जा सकता है। वेद का अन्तिम भाग जो कि ज्ञान काण्ड कहा जाता है यही वेद का अन्तिम भाग होने से वेदान्त है एवं वेदान्त ही उपनिषद् हैं। तथा उपनिषद् ही ब्रह्म विद्या के आदि स्रोत है।

उपनिषदों के महत्त्व को केवल वैदिक धार्मानुयायियों ने ही स्वीकार नहीं किया, अपितु विश्व के प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्त को मुक्तकण्ठ से अंगीकार किया है। उपनिषदों का स्वाध्याय ही वह स्वाध्याय है जो मानव जीवन के लिये परमोपयोगी तथा मानव जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कराने वाला है। उपनिषदों में वर्णित ज्ञान जब हृदय में अवस्थित हो जाता है तब मनुष्य सांसारिक विषयों में उपरत होकर उस पर ब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन में विलीन हो जाता है, जिसके चिन्तन मात्र से सांसारिक सकल चिन्तायें सदा-सदा के लिये समाप्त हो जाती है। उपनिषदीय ज्ञानालोक से अज्ञानजन्य अन्धकार विनष्ट होकर ज्ञानजन्य आलोक से हृदय जब आलोकित हो जाता है, तब न केवल उस मनुष्य का जीवन धन्य होता है अपितु उस मनुष्य को जन्म देने वाली जननी जन्म भूमि तथा उसका सम्पूर्ण कुल कृतार्थ हो जाता है क्योंकि वह अपने ज्ञानालोक से सकल संसार को आलोकित करता है वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने कहा है कि-

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।

अपारसच्चित्सुख सागरे
ऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

अर्थात् जिसका मन उस अपार सच्चिदानन्द स्वरूप पर ब्रह्म के चिन्तन में निमग्न हो गया है उस ब्रह्मवेत्ता का वंश पावन हो जाता है माँ कृतकृत्य हो जाती है तथा वह वसुन्धरा पुण्यवती कहलाती है। उस ब्रह्मवेत्ता की अभेददृष्टि सर्वदा के लिये विनष्ट हो जाती है। सन्त तुलसीदास के कथनानुसार सकल संसार सीताराम का स्वरूप है, उस ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में भी वह दृश्यमान चराचर जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है। उसकी दृष्टि में न कोई कार्य है न करने वाला। क्योंकि कर्तृत्व का बोध

बाह्यदृष्टि वाले सांसारिक प्राणियों को होता है। अन्तर्मुखीदृष्टि वाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष समस्त भेदों से परे रहते हैं। बाह्य दृष्टि से मिट्टी व घट में स्वर्ण व आभूषण में भेद हो सकता है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक हैं । समस्त उपनिषदें उस गाय के समान है जिसका निरन्तर दोहन करने के पश्चात् भी ज्ञानामृत रूपी दुग्ध सदैव प्रवाहित होता रहता है। श्रीमद् भगवद् गीता में भगवान श्री कृष्ण ने जो कुछ भी वर्णन किया है वह सब इन उपनिषदों का सार ही है । इसलिये गीता के महत्त्व से उपनिषदों का ही महत्त्व प्रतिपादित होता है, कहा भी है-

सर्वोपनिषदो गावः दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात् श्रीमद्भगवद् गीता भी गोपालनन्दन भगवान् श्री कृष्ण द्वारा दोहन किया हुआ इन्हीं उपनिषदों का दूध है। धर्मप्रधान भारत देश में जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय हैं उन सब के वर्ण्य विषय का आधारभूत उपनिषदीय ज्ञान ही रहा है। अतः उपनिषदों का महत्त्व वर्णनातीत हैं ।

उपनिषदों की संख्या-

उपनिषदों की निश्चित संख्या के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उपनिषद् वाङ्मय इतना विशाल है जिसके विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं होगा। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों की परिगणना की गयी है। ऋग्वेद से सम्बन्धित 10, शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धि 10, कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध 32, सामवेद से सम्बद्ध 16, तथा अथर्वेद से सम्बद्ध 31 हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार उपनिषदों की संख्या 223 भी है। इस समय 112 उपनिषदें प्रसिद्ध हैं। किन्तु भगवान शंकराचार्य अथवा अन्य आचार्यों ने प्रमुख रूप से दस बारह उपनिषदों पर ही भाष्य लिखे हैं। ये उपनिषदें निम्न है।-

ईशावास्योपनिषद्, कठोपनिषद् केनोपनिषद् प्रश्नोपनिषद् मुण्डकोपनिषद् माण्डूक्योपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद् एतरेयोपनिषद छान्दोग्योपनिषद बृहदारण्यकोपनिषद् कौषीतकी तथा श्वेताश्वरोपनिषद् ।

उपनिषदों में वर्णित विषय-

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुख राशी॥

अर्थात् यह अविनाशी जीव ईश्वर का अंश **है तथा सुख की राशि है किन्तु** भगवान की माया के वशीभूत होने के कारण अपनेवास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर इस दृश्यमान चराचर जगत् को ही सत्य मानकर सांसारिक बन्धनों के वशीभूत हो जाता है। जो जीव स्वयं सुख की राशि स्वरूप है वह संसार में विविध प्रकार के दुःखों से दुःखी होकर संसार के ही विनश्वर पदार्थों से दुःखी होकर संसार के ही विनश्वर पदार्थों में सुख की खोज करता है। संसार के भौतिक पदार्थों से जो सुखानभूति होती है वह क्षणिक है स्थाई नहीं । तथा वह सुख भी वास्तविक सुख नहीं केवल सुख का आभास मात्र है। यहीं कारण है कि आज मानव मात्र भौतिक सुख साधनों से भी सन्तुष्ट नहीं तथा परम अशान्त है। वह सुख शान्ति की खोज सांसारिक विनश्वर पदार्थों में कर रहा है। जो पदार्थ स्वयं विनाशी हैं वे अविनाशी जीव को सुख शान्ति प्रदान कैसे कर सकते है? साथ ही यह भी विचारणीय है कि ईश्वर अंशी है तथा जीव अंश। जब तक अंश का अपने अंशी के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा, तब तक वह परम शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकेगा।

अतः उस ईश्वर का स्वरूप, आत्म तत्त्व का विवेचन, मानव जीवन का लक्ष्य तथा संसार का मिथ्यात्व, आदि विविध विषयों का विवेचन कर इस जीव को अपने आत्म तत्त्व का बोध कराकर, परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कराना उपनिषदों का प्रमुख वर्ण्य विषय है। साथ ही मनुष्य को ऐहिक जीवन यात्रा के साथ-2 पारलौकिक जीवन यात्रा का निरूपण भी उपनिषदों के माध्यम से हमारे ऋषि महर्षियों ने किया है।

॥ ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रों में वर्णित विषय वस्तु ॥

1. ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में सर्वप्रथम ईश्वर की सर्व व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस चराचर जगत में नाम रूपात्मक जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह सब उस पर ब्रह्म परमेश्वर से परिव्याप्त है। इस प्रकृति में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ ईश्वर की सत्ता न हो। साधक का कर्तव्य है कि वह सर्वत्र भगवद् दृष्टि रखे। इसी भाव को सन्त तुलसीदास ने भी अभिव्यक्त करते हुये कहा कि **"हरि व्यापक सर्वत्र समाना"** ।

अतः ईश्वर से परिव्याप्त इस सकल संसार में सर्वत्र भगवद्दर्शन करते हुये आत्म ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है कि वह इस संसार के सकल पदार्थों का त्याग भाव से उपभोग करे । तथा लालच नहीं करना चाहिये जिस पदार्थ पर किसी का भी अधिकार

हो उस पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये वह पदार्थ चाहे माता पिता का हो, पुत्र या पुत्री का हो, भाई या बहिन का हो, मित्र का हो, गुरू या शिष्य का हो। किसी के भी धन का लालच नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह धन आज तक किसका रहा है ? अर्थात् किसी का भी नहीं। यह सकल सृष्टि जिस ईश्वर की कही जाती है, प्रलय काल आने पर उसकी भी नहीं रहती क्योंकि वह जलमग्न हो जाती है।

भारतीय संस्कृति के परिपोषक सकल शास्त्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समस्त वर्णाश्रमानुसार जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों को धर्म अर्थ काम मोक्ष, इन चारों पुरूषार्थों का उपदेश देते हैं। प्रस्तुत मन्त्र के ''**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**'' पाद पर चिन्तन करने से ध्वनित होता है कि यहाँ अर्थ पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। सांसारिक प्राणियों को जीवन यापन करने के लिये **अर्थार्जन** तो करना चाहिये किन्तु **अर्थार्जन** के समय हमारी दृष्टि कैसी हो इसका निरूपण उक्त अंश में किया गया है कि जिस धन पर यदि किसी का स्वत्व (अधिकार) है तो उसका लालच मत करो। लालच के कारण ही व्यक्ति अनेक प्रकार के निषिद्ध कर्मों को करता है। जो कि उसे नहीं करने चाहिये। व्यक्ति जिस धन के लालच वश अनेंक प्रकार के अनर्थों को करता है, वह धन आज तक किसका रहा है ? अर्थात किसी का नहीं।

अतः वाणी में यदि सत्यता, व्यवहार में मृदुता व विश्वसनीयता है तो व्यक्ति जिस किसी भी क्षेत्र से जुड़कर अर्थार्जन करने के लिये प्रयत्नशील है तो वह अवश्य ही सफलता को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत मन्त्र के ''**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'' इस अंश में काम पुरूषार्थ का निरूपण करते हुये कहा गया है कि मनुष्य को त्याग वृत्ति के साथ भोगोपभोग करना चाहिये। अर्थात् किसी भी पदार्थ को अपना मानकर उसमें यदि आसक्ति हो गयी तो वह आसक्ति ही दुःख का कारण है इसलिये सांसारिक पदार्थों का उपभोग निरासक्त भाव से करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। अर्थ व काम का निरूपण करने के पश्चात ''**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यों जगत्**'' इस अंश में मोक्ष रूप पुरुषार्थ का निरूपण करते हुये मुमुक्षु व्यक्ति को उपदेश दिया गया है कि वह ईशा (ईश्वर) से वास्य (परिव्याप्त) इस सकल संसार में भगवद्दृष्टि रखते हुये जीवन यापन करे। इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में अर्थ काम व मोक्ष रूप तीन पुरूषार्थों का विवेचन हुआ है।

2. ईशावास्योपनिषद् के इस **द्वितीय** मन्त्र में शास्त्र विहित कर्म रुपी धर्म का निरुपण करते हुये कहा गया है कि इस जगत् में कर्मों को करते हुये ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य को कर्मजन्य बन्धन प्राप्त न हो। प्रस्तुत मन्त्र में ''**इह**'' (यहाँ) शब्द वर्तमान परिप्रेक्ष्य का वाचक है, अर्थात् हे मनुष्य ! तुझे इस संसार में इसी पाञ्च भौतिक देह में रहते हुये ही कर्म करना चाहिये। क्योंकि कर्म का विधान देह के अस्तित्त्व तक है, देहावसानानन्तर के लिये नहीं । साथ ही कर्म को त्यागकर नहीं अपितु कर्म को करते हुये ही सौ वर्षो तक जीने की इच्छा करे। यहाँ प्रयुक्त ''**शतं समाः**'' शब्द निर्धारित शत संख्या का वचाक नहीं, अपितु जब तक आयु है तब तक सकल आयु का द्योतक है। इसलिये उक्त पद का भावार्थ है कि मनुष्य जिस वर्ण, आश्रम या समाज में रहता है उसके अनुरुप ही शास्त्र विहित कर्मरूपी धर्म का पालन करते हुये सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे।

प्रस्तुत मन्त्र में ''**जिजीविषेत्**'' क्रिया पद का तात्पर्य है कि केवल जीने की इच्छा करे भोगोपभोग की इच्छा न करे। यदि किसी कामना की पूर्ति के बिना काम चल सकता है तो उसकी पूर्ति का प्रयास नहीं करना चाहिये। इसलिये जीवन को भोग की नहीं निर्वाह की आवश्यकता होनी चाहिये।

''**कुर्वन्नेव**'' पद का तात्पर्य है कि मनुष्य को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि कर्तव्य (करने योग्य) कर्म को करना मनुष्य का धर्म है। इस प्रकार इस चराचर सकल संसार में ईश्वर का दर्शन करते हुये, भोगों का उपभोग त्याग वृत्ति से करते हुये धन के प्रति लोभ का न होना तथा कर्तव्य बुद्धि से कर्म रूपी धर्म का आचरण करना, मानव जीवन की सफलता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन मानव जीवन की सफलता के लिये अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार दोनों मन्त्रों में वर्णित चतुर्विध पुरुषार्थों का सेवन करने से मनुष्य कर्म जन्य बन्धन को प्राप्त नहीं होता।

3. इस तृतीय मन्त्र में आत्म ज्ञान विहीन जनों की गति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि असुरों के योग्य लोक घोर अन्धकार से आच्छादित हैं, जो आत्मघाती लोग हैं वे मरकर उन लोकों को जाते हैं।

इस मन्त्र का प्रत्येक शब्द चिन्तनीय है। ''**ये के चात्महनो जनाः**'' अर्थात्

जो आत्मघाती लोग है, आत्मघाती से तात्पर्य यहाँ आत्महत्या करने वाले पुरूष से नहीं, क्योंकि आत्मा का हनन अनेंक प्रकार से होता है। जिस वस्तु का जिस रुप में उपयोग करना चाहिये, उस वस्तु का उस रूप में उपयोग न करना उस वस्तु का घात कहलाता है। वस्त्र को वस्त्र के रूप में प्रयोग न करना, वस्त्र का घात है, हीरे को हीरा न समझकर उसे लोहे की कीमत में बेच देना हीरे का घात है। इसी प्रकार मानव जीवन का उद्देश्य आत्मज्ञान को प्राप्त करना है। यदि कोई मनुष्य आत्मज्ञान से शून्य होकर सांसारिक विषय भोगों में ही अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देता है तो यह आत्मा का घात है।

इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि में कर्मरत तीन प्रकार के व्यक्ति दृष्टिगोचर होते है सात्विक, राजस, तथा तामस। सात्विक व्यक्ति वे कहलाते हैं जो कर्म फलेच्छा से रहित होकर केवल कर्तव्य बुद्धि से अपने कर्म को सम्पादित करते हैं। राजसी व्यक्ति वे कहलाते हैं जो फलेच्छा से कर्म में प्रवृत्त होते हैं । तामसी व्यक्ति केवल फल को चाहता है कर्म में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

अतः राजसी व तामसी व्यक्ति ही यहाँ आत्मघाती शब्द से अभिप्रेत है।

इस प्रकार के आत्मघाती पुरुष इस संसार में अधिक हैं। आत्मा का कल्याण करने वाले व्यक्ति बहुत कम हैं ''**असुराः**'' पद का तात्पर्य है- **असुःसु रमन्तेति असुराः**। अर्थात् प्राणों में (इन्द्रियों के सुखोप भोग में) ही जो रमण करते हैं वे विषयासक्त प्राणी ही असुर कहलाते हैं। तथा ये असुर ही अन्धेन तमसावृताः अर्थात् घोर अन्धकार में डूबे हुये रहते हैं। **लोक्यन्ते इति लोकाः** जहाँ किसी भी प्रकार का आलोक हो वह लोक कहलाता है। विषयासक्त प्राणियों के अन्तःस्थल में विषय भोगों का ही आलोक रहता है इसलिये वे मरने के पश्चात भी उन्हीं लोकों (भावों) को प्राप्त होते हैं जिन भावों के साथ वे आज जीवन जी रहे हैं। इस मन्त्र में मरने के पश्चात् एक देश से अन्य देश की प्राप्ति का वर्णन नहीं है अपितु एक भाव से अन्य भाव की प्राप्ति का वर्णन अभीष्ट है। अतः यदि व्यक्ति आत्मिक ज्ञान से शून्य होकर केवल विषय भोगो में ही रत रहता है तो वह आत्मघाती है, तथा आत्मघाती की जो गति मृत्यु के पश्चात होती है उसका वर्णन इस तीसरे मन्त्र में किया गया।

4. पूर्व के तृतीय मन्त्र में आत्मघाती पुरुष के स्वरूप का वर्णन, असुरता तथा

अन्धंतमस का वर्णन किया गया। आत्मघात, असुरता, तथा अन्धं तमस से बचने का एक मात्र उपाय आत्मज्ञान है। अतः कार्यकारण सहित आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये इस चतुर्थ मन्त्र में कहा गया है कि आत्मा कम्पन (गति) रहित है। संस्कृत व्याकरण में ''**एजृ कम्पने**'' धातु से शतृ प्रत्यय करने पर एजत् तथा नञ् समास में अनेजत् रूप निष्पन्न होता है जिसका तात्पर्य है गति रहित होना। आत्मा को अनेजत कहने से उसकी सर्वव्यापकता ध्वनित होती है। तथा सर्व व्यापक में कम्पन अर्थात् गति नहीं होती क्योंकि उसके लिये कोई भी स्थान खाली नहीं है। गति खाली स्थान में ही सम्भव है। सर्व व्यापक होने से गति रहित वह आत्मा मनसो जवीयः अर्थात् मन से भी अधिक तीव्र गति वाला है तथा एक है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जब आत्मा अनेजत (अकम्पित) है जो जवीयः गतिशील कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार मठाकाश का बोध मठ की उपाधि से होता है वास्तव में तो वह महाकाश ही है,इसी प्रकार निरूपाधिक आत्मा उपाधि के कारण ही गतिशील प्रतीत होता है।

इस आत्मा को देवता अर्थात् इन्द्रियाँ भी नहीं प्राप्त कर सकतीं क्योंकि यह पहले से सर्वत्र विद्यमान है। इन्द्रियों के विषय में कठोपनिषद् में वर्णन आया है कि ''**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्**''। अर्थात् ब्रह्मा जी ने इन इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है इसलिये यह इन्द्रिया सांसारिक बाह्य विषयों (रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श) को तो ग्रहण करती हैं किन्तु अन्तरात्मा को नही क्योंकि वह आत्मा इन इन्द्रियों का विषय नहीं। आत्मा स्वयं अनेजत् होते हुये भी दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर जाता है।

आत्मा के विषय में जिज्ञासा होती है कि जो आत्मा अनेजत् (अकम्पायमान) तथा सर्व व्यापक है उसमें सृष्टि क्यों और कैसे हुई ? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि ''**तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति**''। 'मातरिश्वा' का तात्पर्य है सूत्रात्मा। समस्त जीवों का एकीभूत जो समष्टिरुप है वही सूत्रात्मा है। सृष्टि काल में जिससे अपने-2 कर्म संस्कार वश समस्त जीव प्रकट होकर शरीर धारण करते हैं, चेष्टा करते हैं तथा प्रलय काल आनें पर जिसमें सो जाते हैं, वह सृष्टि का मूल भूत कारण ही सूत्रात्मा कहलाता है वही मातरिश्वा कहा जाता है। अतः जो समस्त सृष्टि में व्याप्त है वह मातरिश्वा ''**अपोदधाति**'' अर्थात् उस कारण में से कार्यरुप सृष्टि का विस्तार होता है अर्थात् वह

कारण ब्रह्म जीव को प्रकट करता है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है उसी प्रकार सृष्टि में कर्म, कर्म से वासना, तथा सृष्टि के अन्त में प्रलय, प्रलय के अनन्तर कर्म वासना से पुनः सृष्टि, यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है।

5. ईशावास्योपनिषद् के इस पञ्चम मन्त्र में कार्य कारण रहित परमात्मतत्त्व का निरूपण करते हुये कहते हैं कि वह ब्रह्म कम्पित भी होता है और नहीं भी होता। नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप एक ही ब्रह्म कम्पायमान तथा अकम्पायमान कैसे हो सकता है? इस बिन्दु पर विचार करते हुये कहते हैं कि कम्पायमान होना या अकम्पायमान होना यह दोनो धर्म एक ही ब्रह्म में अलग-2 समय में रहते हैं जब सृष्टि का समय होता है तब वह ब्रह्म तत्त्व परिणाम (परिवर्तन) को प्राप्त होता है, वह काल उस ब्रह्म तत्त्व के कम्पन का काल है। जब वह तत्त्व परिणाम (परिवर्तन) से रहित होता है तब वह काल उस तत्त्व के अकम्पन का काल कहलाता है। इसलिये उस ब्रह्म में जब एजन क्रिया होती है, तब अनेजन क्रिया नहीं होती।

यह ब्रह्म तत्त्व दूर भी है तथा समीप भी । क्योंकि जो आत्मतत्त्व विहीन अर्थात् अविवेकी पुरूष है। उनके लिये यह ब्रह्म चिरकाल तक भी अप्राप्य होने के कारण अत्यन्त दूर है। तथा जो आत्मतत्त्वज्ञ प्राणी है उसके लिये वह ब्रह्म सदैव उसके पास है। अथवा शास्त्र निषिद्ध कर्म करने वाले पापाचरण में रत रहने वाले अधार्मिक व्यक्तियों के लिये वह ब्रह्म अत्यन्त दूर है। तथा निरन्तर शास्त्र विहित कर्म करते हुये, धर्माचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले पुरुषों को वह ब्रह्म सदैव पास में है। इस सकल संसार का मूलकारण वह ब्रह्म तत्त्व संसार के अन्दर भी है तथा बाहर भी। आत्म तत्त्व का स्वरूप अतीव सूक्षम होने के कारण वह जगत् के अन्दर भी रह सकता है, तथा कण कण में निवास करने वाला सर्वव्यापक होने से जगत् के बाहर भी उसकी सत्ता निरन्तर विद्यमान है।

6. प्रस्तुत मन्त्र में आत्म तत्त्वज्ञ पुरुष की स्थिति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि आत्मा एक है, आत्मतत्त्वज्ञ पुरूष संसार के समस्त भूतों (जीवों) को आत्मा में तथा आत्मा को समस्त जीवों में देखता है तब कोई सन्देह नहीं रहता।जिस प्रकार एक धागे में अनेक पुष्प पिरोये जाते है उसी प्रकार एक ही आत्मा में समस्त भूतों (जीवों) का निवास है। तथा जिस प्रकार अनेक पुष्पों में ग्रथित धागा एक ही होता है, उसी

प्रकार समस्त जीवों में रहने वाला आत्मा एक ही है इस तरह जो पुरूष आत्मा के स्वरूप को समझ लेता है वह न किसी से घृणा करता है तथा न किसी की निन्दा स्तुति करता है। क्योंकि वह जानता है कि समस्त शरीरों में निवास करने वाला आत्मा एक ही है फिर निन्दा स्तुति क्यों। किसी के प्रति निन्दा या स्तुति का भाव जागृत होना, सम्मान या तिरस्कार आदि का भाव जागृत होना समत्वाभाव का द्योतक है जहाँ प्रथकृत्व का भाव होता है वहीं यह सब गुण दोष उत्पन्न होते हैं, किन्तु जहाँ समत्व का भाव जागृत हो जाता है वहाँ पर पुरुष इन समस्त गुण दोषों से रहित हो जाता है।

अतः जब मनुष्य संसार के प्रत्येक पदार्थ के प्रति अपने मन में निर्लिप्तता का भाव जागृत कर लेता है, तब वह किसी से भी विजुगुप्सा (घृणा) नहीं करता। क्योंकि अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ प्रत्येक मनुष्य के जीवन में प्रारब्ध बस आती हैं, दोनों ही परिस्थितियों के लिये व्यक्ति का प्रारब्धकारण है न कि संसार के मनुष्य, फिर मनुष्यों के प्रति घृणा का भाव क्यों? जब यह निश्चित है कि कोई भी मनुष्य किसी को सुख या दुःख नहीं देता अपना कर्म जन्य प्रारब्ध ही अपने सुख दुःख कारण है फिर किसी भी मनुष्य से घृणा करने का भाव ही पैदा नहीं होता।

समत्व भाव को प्राप्त हुये ज्ञानी जन अनुकूल परिस्थितियों में हर्षित नहीं होते, तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में खिन्न नहीं होते।

पुराणों में प्रसंग आता है कि एक वार भवगान शंकर माता पार्वती के साथ वृषभ पर आरूढ होकर यात्रा कर रहे थे मार्ग में ''सनत्कुमार'' जी मिले, किन्तु वे भी तन्मयता में थे, फलस्वरूप उन्होंने उमाशंकर को प्रणाम नहीं किया। माता पार्वती को अनुभव हुआ कि शायद इन्होंने प्रभु शंकर को उपेक्षित कर इनका तिरस्कार किया है। अतः उन्होंने क्रोधित होकर शाप देते हुये कहा कि - ''ऊँट हो जाओ। 'सनत्कुमार' जी शाप वस ऊँट के शरीर में परिवर्तित हो गये। कुछ समय के पश्चात भगवान शंकर माता पार्वती के साथ 'सनत्कुमार' जी को देखने निकले तो देखा कि सनत्कुमार जी ऊँट के शरीर में बड़े प्रेम के साथ नीम की पत्तियाँ खा रहे थे। भगवान शंकर ने कहा कि कहो क्या हाल है?

'सनत्कुमार' जी ने कहा कि माता जी ने मुझे ऊँट बनने का शाप देकर मुझ पर बड़ी कृपा की है क्योंकि अब न किसी को उपदेश देने के लिये जाना पढ़ता है, न भिक्षा मांगनी पढ़ती है, तथा न ही स्नानादि शुद्ध आचरण युक्त, जीवन जीने की जरूरत है।

केवल सर उठाया और पत्ते खा लिये, इसलिये अब तो बहुत ही आनन्द हो गया। माता पार्वती ने अपने शाप से उन्हें मुक्ति दे दी।

अतः प्रत्येक परिस्थिति में समत्व भाव को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष किसी से घृणा नहीं करता।

व्याकरण शास्त्र में ''घृ'' धातु से घृणा, घर्म, घृत आदि शब्द निष्पन्न होते है। यह तीनों ही शब्द असहिष्णुता को अभिव्यक्त करते है। घृणा हमारे चित्त की दुर्बलता है हमारे चित्त की असहिष्णुता है। चित्त जब किसी के उत्कर्ष को, अथवा संवेदना के ताप को सहन नहीं कर सका तो घृणा होती है। शरीर जब बाह्य ताप को सहन नहीं कर पाता तो घर्म (पसीना) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार घृत भी ताप को न सह सकने के कारण पिघल जाता है।

अतः घृणा चित्त का विकार है आत्मा का नहीं। आत्म तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी तो समस्त भूतों (जीवों) को आत्मा में तथा आत्मा को समस्त जीवों (भूतों) में देखता है।

7. प्रस्तुत मन्त्र में एकात्म दर्शन के महत्त्व को प्रकट करते हुये कहा गया है कि मनुष्य को अनुभव होने वाले शोक और मोह का मूल कारण अज्ञान है । इस अज्ञान के कारण ही मनुष्य संसार के प्राणियों में नाना रूपता का अनुभव करता है। नाना रुपता का भास होने पर ही आत्मीय व्यक्तियों के प्रति मोह जागृत होता है, तथा वियोगावस्था में शोक की अनुभूति होती है। इस शोक और मोह का मूल कारण व्यक्ति का अज्ञान है।

अतः जिस काल में अज्ञान की निवृत्ति हों जाती है उस काल में आत्म तत्त्वज्ञ प्राणी द्वैतभाव से मुक्त होकर सर्वत्र एक आत्मा का दर्शन करते हुये शोक मोह आदि से रहित हो जाता है। क्योंकि उस समय आत्म तत्त्व वेत्ता प्राणी को ''आत्मैवेदं सर्वम्'' की अनुभूति होने लगती है।

आत्मबोधानन्तर तत्त्वज्ञ प्राणी को आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं जिसे प्राप्त किया जाये, जब संसार में प्राप्तव्य कुछ है ही नहीं तो फिर शोक होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अतः जिस समय से आत्म बोध होकर अज्ञान की निवृत्ति होती है तभी से एकत्व का अनुभव होने के कारण शोक और मोह सर्वदा के लिये निवृत्त हो जाते हैं।

इस मन्त्र में ''विजानतः एकत्वमनुपश्यतः यस्मिन् आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत्'' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि सभी भूत आत्मा में विलीन हो गये, आत्मा सर्वभूत स्वरूप हो गया। आत्मा सर्वभूत स्वरूप पूर्व से ही था किन्तु अज्ञान के कारण इसका अनुभव नहीं होता था अब अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण सर्वभूत स्वरूप आत्मा का ज्ञान हो गया।

''विजानतः'' पद का तात्पर्य है कि सन्त अथवा शास्त्र के द्वारा जिस पुरुष ने श्रवण मनन आदि से अपने स्वरूप को पहचान लिया है। संसार के लोग दृश्यमान इस चराचर जगत को सत्य, तथा ईश्वर को अपने से अलग जानते हैं जबकि आत्मतत्त्वज्ञ प्राणी इस दृश्यमान जगत को मिथ्या तथा ईश्वर को अपने से अभिन्न समझता है।

इस प्रकार के ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देते हैं कि **''एकत्वमनुपनश्यतः''** अर्थात् वह प्राणी सर्वत्र एकत्व का दर्शन करता है। जो इस देह का दृष्टा है वही आत्मा इस प्रपञ्च का भी दृष्टा है। यह आत्मा सन्मात्र तथा चिन्मात्र दोनो ही है।

प्रस्तुत मन्त्र में क्रिया वाचक अभूत् पद 'भू' धातु से नहीं अपितु ''अस् भुवि'' धातु से निष्पन्न है। अतः अभूत् पद का अर्थ है अस्तिमात्र। जिसमें तीन भाव अभिव्यक्त होते है अस्ति, भवति, करोति । ''अस्ति'' में मात्र होना है, प्रयत्न नहीं होता किन्तु परिवर्तन होता है। 'करोति' में प्रयत्न तथा परिवर्तन दोनों होते हैं। 'अस्ति' दृष्टा में ही है 'भवति' प्रकृति तथा महत्त्व में भी विद्यमान है 'करोति' में 'अहं' है।

अतः ''अस् भुवि'' धातु से निष्पन्न क्रिया वाचक अभूत् पद प्रयत्न अथवा परिवर्तन को सूचित नहीं करता। इसलिये सत्तामात्र अस्तिमात्र का द्योतक यह अभूत् पद सूचित करता है कि- आत्मा सर्व भूत के रूप में परिणत नहीं होता, क्योंकि आत्मा तो सर्व भूत रूप में ही सदैव से है। अज्ञान के कारण पहले इस बात को नहीं जानते थे इसलिये प्राणियों में नाना रूपता का आभास होता था। आत्म तत्त्व का बोध हो जाने के पश्चात समस्त भूतों (जीवों) में एकात्म भाव जागृत हो जाता है। तथा शोक व मोह सदैव के लिये निवृत्त हो जाते हैं।

8. प्रस्तुत मन्त्र में शुक्रम् अकायम्, अव्रणम् आदि विविध विशेषणों के द्वारा आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वेदान्त दर्शन आदि शास्त्रों में

तीन प्रकार के शरीरों का वर्णन मिलता है- स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर। प्रथ्वी जल,तेज,वायु, आकाश, इन पञ्च महाभूतों से निर्मित शरीर स्थूल शरीर कहलाता है, जो कि मृत्यु के पश्चात नष्ट हो जाता है। सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) सत्तरह अवयवों वाला है वे सत्तरह अवयव निम्न है- पञ्चप्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि। मृत्युकाल में सत्तरह अवयवों वाला यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से प्रथक हो जाता है, तथा आत्मा इस सूक्ष्म शरीर के साथ ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। इस सूक्ष्म शरीर से भी सूक्ष्मतर शरीर है कारण शरीर, जो कि समस्त प्रपञ्च का कारण स्वरूप अज्ञान ही कारण शरीर कहलाता है। आत्मा इन तीनों प्रकार के शरीरों से रहित है इसलिये अकायम्, अव्रणम्, आदि विशेषणों के माध्यम से आत्मा के अशरीरी होने का प्रतिपादन किया गया।

संसारी व्यक्ति संसार की आकृतियों उनके रूप रंग, स्वाद, स्पर्श, गन्ध आदि की विशेषताओं को महत्त्व देता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति वस्तुओं की अलग-अलग विशेषताओं को महत्त्व नहीं देता, उसकी दृष्टि मूलतत्त्व पर रहती है।

ईशावास्पोपनिषद् के इस अष्टम मन्त्र में ''सः'' यह पद पुल्लिङ्ग है । जबकि शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम् आदि पद नपुंसक लिङ्ग के प्रयुक्त हुये हैं। भगवान शङ्कराचार्य के मतानुसार लिङ्ग परिवर्तित कर इन शब्दों को शुक्रः अकायः अव्रणः इस रूप में पढा जा सकता है। ''सः'' इस पद के स्थान पर ''तत्'' पद का प्रयोग करना तो उचित नहीं होगा, क्योंकि इस मन्त्र के उत्तरार्ध में आने वाले कविः मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः, आदि शब्द पुल्लिङ्ग के प्रयुक्त हुये हैं। इसलिये पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त ''सः'' इस पद को नंपुसक लिङ्ग में प्रयुक्त करना उचित नहीं।

वैष्णवाचार्यों के अनुसार इस मन्त्र में नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त सभी शब्द पर ब्रह्म के वाचक हैं जबकि पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त सभी शब्द सगुण ईश्वर के वाचक हैं। अतः इस मन्त्र का भावार्थ है कि-

जो पर्यगात् = सर्वव्यापक, शुक्रम् = ज्योतिष्मत्, अकायम् = आकार रहित, अव्रणम् अक्षत-निर्विकार, अस्नाविरम्= स्नायुहीन शुद्धम्= निर्मल, अपापविद्धम् = निष्पाप परब्रह्म परमात्मा है, सः = वही कविः = सर्वज्ञ, मनीषी = मनोनियन्ता, परिभूः = सर्वोत्कृष्ट स्वयम्भूः = स्वतः सिद्ध सगुण ईश्वर है। उसी ईश्वर ने अर्थान् = वैदिक ज्ञान को शाश्वतीभ्यः समाभ्यः = संवत्सर नामक प्रजापतियों को, व्यदधात् = विधान-

प्रदान किया। अतः इस अष्टम मन्त्र में ईश्वर का निर्गुण तथा सगुण दोनो ही रूपों में वर्णन किया गया।

9. ईशावास्योपनिषद् के इस नवम मन्त्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति अविद्या की उपासना में रत रहते हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं, तथा उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश वे करते है जो विद्या की उपासना करते हैं।

सामान्यतया संसार में विद्या का अर्थ 'ज्ञान' रुप में प्रचलित है। भगवान शंकराचार्य के मतानुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है- देवता ज्ञान तथा परमात्म ज्ञान। अतः विद्या शब्द से तात्पर्य यहाँ देवता ज्ञान से है परमात्म ज्ञान से नहीं। अविद्या का तात्पर्य अग्निहोत्रादि याज्ञिक कर्मों से है।

अतः मन्त्र का तात्पर्य है कि जो मनुष्य वेदों में वर्णित सकाम उपसना में रत रहते हैं वे कर्म जन्य फल को भोगने के लिये निरन्तर लालायित रहते हैं। तथा फलोपभोग की कामना से राग वश वे कर्म करते रहते हैं एवं फल भोगने के लिये उन्हें बार-2 जन्म लेना ही पढ़ता है। फलस्वरूप अविद्या रूपकर्म को करते रहने के कारण ऐसे व्यक्ति जन्म मृत्यु के चक्र से कभी मुक्त नहीं हो पाते।

और ''**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्**'' का क्रम चलता ही रहता है। इसलिये कहा गया कि विद्या रुप कर्म की उपासना में रत रहने वाले व्यक्ति घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

साथ ही जो मनुष्य कर्म का परित्याग कर केवल देवताज्ञान रूप विद्या की उपासना करते हैं वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में जाते हैं, क्योंकि कर्मों को किये बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती, अन्तः करण शुद्ध हुये बिना चित्त में ज्ञान का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं। तथा ज्ञान प्राप्ति के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। ''**ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः**।

इसलिये हमारे जीवन में कर्म तथा ज्ञान इन दोनों का समुच्चय होना चाहिये। न केवल कर्म करने में जीवन का साफल्य है, न सैद्धान्तिक ज्ञान से ही जीवन का साफल्य है। दोनों का समुच्चय ही श्रेष्ठ जीवन है। उदाहरण के लिये एक लेखक किसी सन्त का दर्शन करने के लिये उनकी कुटिया पर गये। जाते समय एक अत्यन्त सुन्दर अपनी कृति (पुस्तक) साथ में ले गये। वह कृति उन्होंने महात्मा जी को प्रदान की।

महात्मा जी उस सुन्दर कृति (पुस्तक) को देखने में मग्न हो गये। लेखक महानुभाव इस प्रतीक्षा में थे कि शायद महात्मा जी पुस्तक रखकर मेरी ओर भी देखेंगे, किन्तु जब समय काफी हो गया, तब चिढ़कर लेखक ने कहा - कि शायद मैंने आपको पुस्तक देकर भूल की, यदि मैं पुस्तक न लाता तो ज्यादा अच्छा था। पुस्तक न लाने पर कम से कम आप मेरी तरफ देखते तो। महात्मा जी ने कहा- कि लो पुस्तक फेंक देते हैं। लेखक ने हाथ जोड़ते हुये कहा कि हे भगवन्! आप मेरी इस कृति को फेंकिये मत। महात्मा जी ने कहा कि आखिर तुम चाहते क्या हो? न तो अपनी इस कृति को देखने देते हो और न ही इसे फेंकने देते हो। लेखक ने कहा- भगवन! मेरी इच्छा है कि आप मेरी इस कृति को भी देखें और मेरी ओर भी देखें।

यह सम्पूर्ण संसार उस पर ब्रह्म परमेश्वर की कृति है, लेखक के रूप में स्वयं ईश्वर है। महात्मा के रूप में हम सभी प्राणी हैं। अतः हम सब का कर्तव्य है कि हम ईश्वर की इस संसार रूपी कृति को ही न देखते रहें हमे ईश्वर की ओर भी देखना चाहिये।

अथवा इस मन्त्र में प्रयुक्त अविद्या शब्द ही हमारी कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा विद्या शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। जो कर्मासक्त व्यक्ति कर्मेन्द्रियों द्वारा होने वाले कर्म में अनुरक्त रहते है वे मानों अविद्या की उपासना करते हुये घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं। क्योंकि कर्म में चैतन्य नहीं अपितु वह जड़ है। इसलिये कर्तृत्व का अहंकार जड़ता की ओर अग्रसर करता है।

अविद्या (कर्म) में रत रहने वाले प्राणियों से भी अधिक घोर अन्धकार को वे प्राणी प्राप्त होते हैं जो विद्या में अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के भोगों में या देवताओं की उपासना रूप विद्या में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते रहते हैं। इसलिये जीवन में न कर्म की प्रधानता होनी चाहिये न भोगों की। दोनों का समन्वय ही प्रशंसनीय जीवन है।

10. प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि विद्या का ऐन्द्रियक विषय-भोग या स्वर्गादि की प्राप्ति रूप भिन्न फल है, तथा अविद्या-कर्म का लौकिक उन्नति रूप भिन्न फल है। ऐसा धीर पुरूषों से सुना गया है।

''धीर पुरूष'' का तात्पर्य व्यक्ति, के वर्णन से नहीं अपितु प्रतिपादित विषय के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये लौकिक प्रथा का अनुवाद मात्र। जिस प्रकार लोक में आप्त पुरूष की बात प्रमाणिक मानी जाती है उसी प्रकार धीर पुरूषों से सुनी हुई बात अत्यन्त प्रामाणिक होती है।

धीमान् ही धीर कहलाता है ''धीराणां'' इस बहुवचनान्त पद से तात्पर्य है कि उपासना के द्वारा जिन पुरूषों ने उस परब्रह्म परमेश्वर से साक्षात्कार किया है वे पुरुष धीर कहलाते हैं।

अथवा हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सुख- दुःख आदि समस्त परिस्थितियों में जो व्यक्ति समान रहते हों वे धीर पुरुष कहलाते है। अर्थात् विकार का कारण उपस्थित हो जाने पर भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता वह पुरुष धीर कहलाता है।

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।
कालिदास

इस प्रकार के उन धीर पुरूषों ने जिस सत्य को देखा, जिसका अनुभव किया, उसका निरूपण हमारे लिये किया है। अतः इस मन्त्र में विद्या और अविद्या दोनों का अलग-2 फल बताकर इस ज्ञान को अनादि परम्परा से प्राप्त ज्ञान बताया है।

11. ईशावास्योपनिषद् के इस ग्यारहवें मन्त्र में विद्या और अविद्या दोनों की एक साथ उपासना करने का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि- जो व्यक्ति विद्या तथा अविद्या दोनों को एक साथ जानता है वह व्यक्ति अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त होता है।

मनुष्य को न तो केवल कर्म में ही रत रहना चाहिये न ही केवल भोग में। जीवन में दोनों का समुच्चय होना चाहिये। तभी जीवन का साफल्य है। अविद्या अर्थात् कर्म को जीवन में अपनाने से चारित्रिक शुद्धि होती है। विद्या अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय मन, व बुद्धि की वृत्तियों से अन्तःकरण की शुद्धि होने पर वयक्ति अमरत्व को प्राप्त होता है।

इस उपनिषद के ''ईशावास्यमिदं सर्वम्!'' ''अनेजदेकम्'' आदि पूर्व के मन्त्रों में जिस परमात्म तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है उस पर ब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त करने की योग्यता कैसे अर्जित की जाये यही वर्णन विद्या अविद्या के माध्यम् से प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है।

12. पूर्व के मन्त्रों में विद्या और अविद्या दोनों को प्रथक-2 अपनाने पर निन्दा

करते हुये दोनो के समुच्चय का प्रतिपादन करने के बाद इस मन्त्र में भी पूर्व की शैली में ''असम्भूति'' और ''सम्भूति'' की समुच्चय पूर्वक उपासना का उपदेश दिया गया है। इसलिये पहले दोनों की प्रथक्तया उपसना की निन्दा करते हुये कहा गया है कि जो प्राणी असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। तथा वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो ''सम्भूति'' की उपासना में रत रहते है।

सम्भूति- सम्भवनम् अर्थात् जिसका जन्म होता है कार्य ब्रह्म। असम्भूति असम्भवनम् अर्थात् जिसका जन्म न होता हो वह कारण ब्रह्म ही असम्भूति पद वाच्य है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों का कहीं न कहीं तो प्रयोग करता ही है यहाँ चिन्तनीय विषय यह है कि हम अपनी इन्द्रियों को सम्भूति (कार्य ब्रह्म) में लगाते हैं अथवा असम्भूति (कारण ब्रह्म) में लगाते हैं।

यदि संसार का कोई भी साधक केवल असम्भूति में रत है तो समझना चाहिये कि वह अन्धकार की ओर अग्रसर हो रहा है। उससे भी घोर अन्धकार में वह व्यक्ति प्रविष्ट हो रहा है जो केवल सम्भूति में रत है। इसलिये दोनों का सामञ्जस्य जीवन में होना चाहिये।

13. ईशावास्योपनिषद् के इस तेरहवें मन्त्र में सम्भूति तथा असम्भूति को सम्भव व असम्भव शब्दों से अभिहित किया गया है। सम्भव-सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना से सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति रुप फल वर्णित है। तथा असम्भव-असम्भूति अर्थात् अव्याकृत प्रकृति की उपासना से प्रकृति लय रूप भिन्न फल वर्णित है। अतः व्यक्त (साकार) व अव्यक्त (निराकार) दोनों ही प्रकार की उपासनायें भिन्न-2 फलों को देने वाली है।

कार्य ब्रह्म की उपासना से साधक संसार के विषयों के प्रति आकृष्ट होता है संसार के विषय भोग चूंकि जड़ हैं इसलिये व्यक्तोपासना से जीवन में जड़ता आती है। कारण ब्रह्म की उपासना से बौद्धिक तर्क वादिता का विस्तार होता है।

इसलिये जो व्यक्ति केवल कारण ब्रह्म की उपासना में रत रहता है उसके द्वारा कार्य ब्रह्म की उपेक्षा होती है। फलस्वरूप विश्वमानवता के नाम पर राष्ट्रीयता समाप्त होती है। विश्वमानवता राष्ट्रीयता का नाम लेकर जब कोई भी धर्म जाति या समाज की उपेक्षा करता है तब वह अपने जाति धर्म या समाज का ही अहित करता है। जो व्यक्ति समाज सेवा के नाम पर अपने परिवार की उपेक्षा करता है, उनका परिवार नष्ट

हो जाता है। जो परिवार हित को ध्यान में रखकर रात दिन दौड़ते हुये अपने शरीर की उपेक्षा करते हैं, उन व्यक्तियों का स्वास्थ्य तथा जीवन की शान्ति नष्ट हो जाती है।

इसी तरह जो व्यक्ति कार्यब्रह्म में रत रहकर कारण ब्रह्म की उपेक्षा करता है उस व्यक्ति में स्वार्थ तथा संकीर्णता का प्रादुर्भाव होता है। परिणाम स्वरूप वह व्यक्ति भी पतन की ओर अग्रसर होता है। इसलिये जीवन में सम्भव (सम्भूति) व असम्भव (असम्भूति) दोनों का समुच्चय होना चाहिये।

14. प्रस्तुत मन्त्र में सम्भूति तथा असम्भूति दोनों प्रकार की उपासनाओं को एक साथ अपनाने पर मिलने वाले फल का वर्णन किया गया है। इस मन्त्र में प्रयुक्त सम्भूति शब्द में अधिकांश व्याख्याकारों ने अकार का प्रश्लेश माना है। जिसका तात्पर्य है असम्भूति। विनाश शब्द को सम्भूति के अर्थ में मानने से अर्थ की संगति ठीक हो जाती है। क्योंकि विनाश सभी कार्यों का निश्चित है इसलिये विनाश शब्द को विनाशशील कार्य ब्रह्म का वाचक ही मानना चाहिये।

अतः मन्त्र का तात्पर्य है कि जो व्यक्ति सम्भूति तथा विनाश इन दोनों उपासनाओं को एक साथ अपनाता है वह विनाश से मृत्यु को पार करके सम्भूति के द्वारा अमृतत्त्व को प्राप्त होता है। अतः दोनों उपासनाओं के समुच्चय से ही मनुष्य का हित सम्भव है, अन्यथा नहीं।

15. पूर्व के मन्त्र में सम्भूति तथा असम्भूति की समुच्चय रूप में की गयी उपासना से अमरत्व प्राप्ति का वर्णन किया गया। इस मन्त्र में उपासक अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में आदित्य मण्डल में स्थिति ब्रह्म से मोक्ष के द्वार को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हुये कहता है कि - हिरण्य पात्र से सत्य का मुख आच्छादित है। अतः हे पूषन्! सत्य धर्मा मैं उस सत्य स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकूँ इसलिये तुम उसे हटा दो।

पिवन्ति अनेन इति पात्रम्। अर्थात् जिससे रसादि का पान किया जाये वह पात्र कहलाता है। इस मन्त्र में हिरण्मय पात्र का उल्लेख इसलिये किया गया है कि मिट्टी, रजत, लोहे आदि के पात्र तो अग्नि में भस्मीभूत हो जाते हैं, किन्तु स्वर्ण कभी भस्म नहीं होता। इसलिये हिरण्मय पात्र को कहने का तात्पर्य यह है कि वह कभी अपने आप नष्ट नहीं होता, अतः उस पात्र को हटाने की प्रार्थना इस मन्त्र में उपासक कर रहा है।

''सत्यस्यापिहितं मुखम्'' में ''अपिहितम्' पद का तात्पर्य है आच्छादित। अर्थात् वह मुख जिसके द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है, वह हिरण्मय पात्र से ढका

हुआ है। सत्य स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार शम, दम, विवेक, वैराग्य आदि के द्वारा होता है, किन्तु काम क्रोध लोभ मोह आदि के कारण विवेक वैराग्य आदि की जागृति नहीं होती। अतः ये सब सत्य के मुख पर आवरण (ढक्कन) स्वरूप ही है।

सत्य वह परमात्म तत्त्व है जिसका वर्णन ''तदेजति तन्नैजति'' ''अनेजदेकं पुरुषो जवीयः'' ''स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण'' आदि मन्त्रों में किया गया है।

पुष्यतीति पोष्टा अर्थात् जो सबको स्फूर्ति देने वाला ईश्वर है वही पूषन् है। इस मन्त्र में जिस सत्य स्वरूप ब्रह्म का मुख हिरण्मय पात्र से आच्छादित है उसे हटाने की प्रार्थना उपासक कर रहा है।

इस मन्त्र में प्रयोजन तथा अधिकारी दोनों का वर्णन किया गया है। प्रयोजन तो है' दृष्टये' साक्षात्कार के लिये। अधिकारी है 'सत्य धर्माय' सत्य ही जिसका धर्म है वह सत्य धर्मा कहलाता है। प्राणीमात्र का धर्म सत्य ही होना चाहिये, सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म नहीं होना चाहिये। सत्य ही प्राप्तव्य है, सत्य ही चिन्तनीय है, **''सत्यं पर धीमहि''**।

16. इस सोलहवें मन्त्र में उपासक पुनः अपने जीवन के अन्तिम समय में आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का दर्शन करने के लिये पूषा से प्रार्थना करता है कि हे पूषन्! एकाकी विचरण करने वाले! यम! सूर्य! प्रजापति नन्दन! अपनी रश्मियों के समूह को हटा लो। तुम्हारा जो तेजोमय कल्याण तम रुप है उसे मैं देखता हूँ। आदित्य मण्डल में जो यह पुरुष है वह मैं ही हूँ।

इस मन्त्र में प्रयुक्त पूषा आदि सभी शब्द भगवान सूर्य के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। सकल सृष्टि की पुष्टि करने के कारण भगवान सूर्य पूषा नाम से अभिहित हैं। तथा सम्पूर्ण गगन में एकाकी विचरण करते हैं इसलिये एकर्षिः कहे जाते हैं। समस्त प्राणियों, दिन-माह- वर्ष,ऋतु तथा वर्षा आदि का नियमन इनके द्वारा होने के कारण इन्हें यम कहा जाता है। यम का तात्पर्य है अन्तर्यामी। अर्थात् सबके हृदय में रहकर सभी जीवों पर अपना शासन चलाने वाला। शासन का सञ्चालन सृष्टिकाल में ही होता है सृष्टि रहेगी तभी शासन का सञ्चालन होगा। इसलिये सृष्टि काल में ही ईश्वर यम अथवा शासक कहा जाता है। प्रलय काल में वह केवल ईश्वर रहता है।

''सूरिभिर्गम्यते इति सूर्यः'' अर्थात् ज्ञानी लोग जिसे प्राप्त करते हैं वह

ईश्वर ही सूर्य है। ''प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः'' प्रजापति ब्रह्मा जी की सन्तति होने के कारण प्रजापत्य कहलाते हैं। इस प्रकार के वैशिष्ट्य से युक्त हे पूषन्! हमारा मंगल करें। साथ ही अपनी प्रखर किरणों के समूह को हटा लीजिये जिससे कि मैं आपके मंगलमय स्वरूप के दर्शन कर सकूँ। प्रत्येक नाम रुप में भासमान जो पुरूष है जो तृण में-तरू में, पशु-पक्षी में अग्नि-वायु में, कीट- पतंग में, जल-थल में सर्व व्यापक पुरुष है वह मैं ही हूँ।

17. प्रस्तुत मन्त्र में मरणोन्मुख उपासक स्थूल शरीर की नश्वरता से अवगत होने के पश्चात् प्रार्थना करता है कि- यह पाञ्चभौतिक शरीर भस्म होकर अपने उपादान कारण पृथ्वी,जल,तेज,वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतों में विलीन हो जाये क्योंकि इस स्थूल शरीर की यही अन्तिम गति है।

इसलिये हे मन ! तुम उस ईश्वर का स्मरण करो । अपने द्वारा किये गये सत्कर्मों को स्मरण करो।

जीवन के अन्तिम समय में किये गये चिन्तन के आधार पर ही अगले जन्म का निर्धारण होता है यदि कोई भी जीव अन्तिम समय में सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करते हुये इस पाञ्च भौतिक कलेवर को त्यागता है तो वह पुनः उन पदार्थों का उपभोग करने के लिये जन्म ग्रहण करता है तथा पुनः -2 जन्म मरण का चक्र चलता रहता है।

इसलिये जन्म मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये अन्तिम समय में भगवान का चिन्तन करना चाहिये। अतः यह निश्चित है कि अन्तिम समय का चिन्तन ही अगले जन्म की पृष्ठ भूमि है। गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन -

यं यं वापि स्मरन्भावं तयजन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥

अतः भगवान को स्मरण करने के साधनों में नाम सर्वश्रेष्ठ है, और नामों में ॐ सर्वश्रेष्ठ है। गीता में कहा भी गयाहै कि - ॐकार का उच्चारण करके मेरा स्मरण करना चाहिये- **''ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन मामनुस्मरन्''**। अन्तिम समय में सत्कर्म और उपासनाओं के स्मरण से चित्त में पवित्रता, एवं सद्भाव का जागरण होता है। जिससे आत्म तुष्टि तथा आनन्द की अनुभूति होती है। फलस्वरूप यह जीवात्मा उत्तम गति को प्राप्त होता है।

इसीलिये इस मन्त्र में देहासक्ति को त्यागने की बात कही गयी है क्योंकि यह तो भस्मान्त है। अतः अन्त में उत्तम कर्मों का स्मरण करते हुये ऊँकार का स्मरण करना चाहिये।

18. यह मन्त्र न केवल ''ईशावास्योपनिषद्'' का ही अन्तिम मन्त्र है अपितु शुक्ल यजुर्वेद संहिता की दोनों शाखाओं- माध्यन्दिनि और काण्व का भी अन्तिम मन्त्र है।

इस मन्त्र में उपासक अपने जीवन के अन्तिम समय में भगवान अग्निदेव को ईश्वर का रूप मानकर प्रार्थना करता है कि - हे अग्निदेव। आप हमारे सम्पूर्ण कर्मों के जानकार हैं। इसलिये आप हमें अभीष्ट सिद्धि के लिये सनमार्ग से ले चलिये। छल प्रपञ्च से युक्त पाप के मार्ग से हमें प्रथक कर दीजिये। हम बार-2 आपको नमस्कार करते हैं।

इस मन्त्र में प्रयुक्त अग्नि शब्द ईश्वर का वाचक है। अतः उपासक ईश्वर स्वरूप अगिनदेव से कहता है कि आप हमें सन्मार्ग से ले चले। हमें उत्तरायण की गति प्राप्त हो दक्षिणायन की नहीं। क्योंकि दक्षिणायन की गति से जिस आत्मा का गमन होता है उस आत्मा का कर्म जन्य फल भोगने के लिये मृत्यु लोक में पुनरागमन सम्भव है किन्तु उत्तरायण के मार्ग से गमन होने पर मृत्यु लोक में पुनरागमन नहीं होता। अपितु स्थूल शरीर की मृत्यु के पश्चात् उस परम धाम की प्राप्ति होती है जिसके विषय में भगवान ने स्वयं कहा है कि-

''यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम''।

हरस्वरूप वाशिष्ठ
प्रवक्ता-संस्कृत वाङ्मय
राजकीय महाराणा संस्कृत कॉलेज
उदयपुर (राज॰)

ईशावास्योपनिषद्

शान्ति पाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ससन्दर्भ प्रसंगः

प्रस्तुतोऽयं मन्त्रः बृहदारण्यकोपनिषदन्तर्गत पञ्चमाध्याय ब्राह्मण- गतायाः प्रथमकण्डिकायाः पूर्वार्धः वेविद्यते । मन्त्रोऽयम् ईशावास्योपनिषदि शान्तिपाठ रूपेण पठितः।

मन्त्रेऽस्मिन् परब्रह्मणः परिपूर्णतायाः विवेचनं कुर्वता महर्षिणा त्रिविधताप-शान्त्यर्थं प्रार्थना विहिता।

अन्वयः

अदः पूर्णम् इदम् पूर्णम् (यतः) पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते।

संस्कृत व्याख्या

ॐ ओमिति पदं पर ब्रह्मणः वाचकम्, अदः = तत् कारणात्मकं परं ब्रह्म, पूर्णम् = पूर्णत्वविशिष्टम्, इदम् = कार्यात्मकं जगत् ब्रह्म, पूर्णम् = पूर्णत्वविशिष्टम्, यतः = यतोहि पूर्णात् = परब्रह्मणः, पूर्णम् = इदम् जगत् ब्रह्म, उदच्यते = उत्पद्यते। (प्रलयकाले) पूर्णस्य = कार्यात्मकजगत् ब्रह्मणः, पूर्णमादाय = पूर्णत्वं निग्रह्य, पूर्णम एव = परब्रह्म एव, अवशिष्यते = परिशिष्यते। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः= त्रिविधतापाः शान्तिं यान्तु।

शब्दार्थः

ॐ = ओऽम् यह पद पर ब्रह्म का वाचक है। अदः = वह (कारणात्मक

परब्रह्म) पूर्णम् = पूर्ण है। इदम् = यह (कार्यात्मक जगत् ब्रह्म) पूर्णम् = पूर्ण है। यतः = क्योंकि पूर्णात् = पूर्ण से, पूर्णम् = पूर्ण, उदच्यते = उत्पन्न होता है। (प्रलयकाल में) पूर्णस्य = पूर्ण का, पूर्णम् = पूर्ण। आदाय = लेकर, पूर्णम एव = पूरा ही अवशिष्यते = शेष रहता है। ॐ शान्तिः = ओऽम-शान्ति हो, शान्तिः = शान्ति हो, शान्तिः = शान्ति हो।

अनुवाद :

ॐ शब्द पर ब्रह्म का वाचक है। अतः वह कारणात्मक पर ब्रह्म परमेश्वर पूर्ण है। तथा यह कार्यात्मक जगत् ब्रह्म भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण (पर ब्रह्म) से पूर्ण (यह संसार) उत्पन्न हुआ है। प्रलयकाल में पूर्ण के पूर्ण को निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिक इन तीन प्रकार के संतापों की शान्ति हो।

हिन्दी व्याख्या

प्रत्येक कार्य के आदि, मध्य, तथा अन्त में मङ्गलाचरण करना भारतीय संस्कृति की अनादि कालीन परम्परा रही है। मङ्गलाचरण क्यों करना चाहिये। क्या आवश्यकता है मङ्गलाचरण करने की ? इस उत्थिताकांक्षा के निवारण हेतु शास्त्रकारों ने मङ्गलाचरण के प्रमुख रूपेण दो प्रयोजन प्रतिपादित किये है। प्रथम विघ्नों का ध्वंस, तथा द्वितीय प्रारीप्सित कर्म की निर्विघ्न समाप्ति। इन प्रयोजनों को ही दृष्टिगत रखते हुये प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में विघ्न शान्त्यर्थ शान्ति पाठ का विधान किया गया है। मुक्तिकोपनिषद (1-52 मन्त्र) के द्वारा ईशावास्योपनिषद् आदि उपनिषदों का ''पूर्णमदः पूर्णमिदम्. यह मन्त्र शान्ति पाठ के अन्तर्गत समाविष्ट है। बृहदारणयकोपनिषद् में वर्णित उक्त मन्त्र में नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप पर ब्रह्म परमेश्वर की परिपूर्णता का प्रतिपादन किया गया है। ''पूर्णमदः'' इस पद में वर्णित अदस् शब्द निरूपाधिक कारणात्मक परोक्ष ब्रह्म का वाचक है। जबकि ''पूर्ण मिदम्'' इस पद में वर्णित इदम् शब्द सोपाधिक कार्यात्मक जगत् ब्रह्म का वाचक है। अतः कारण स्वरूप इस पूर्ण ब्रह्म से कार्यस्वरूप पूर्ण जगत् ब्रह्म प्रादुर्भूत होता है। परन्तु पूर्ण ब्रह्म ही वस्तुतः सत्य है तथा जगत् ब्रह्म मिथ्या है - **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।**

साथ ही यह भी चिन्तनीय है कि पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण ब्रह्म उत्पन्न हो जाने पर भी पूर्ण की पूर्णता में कोई विकृति नहीं आती । संसार की उत्पत्ति या प्रलय से किसी भी परिस्थिति में पर ब्रह्म परमेश्वर की पूर्णता प्रभावित नहीं होती । जैसे - शुक्ति (सीपी)

में भ्रमवश रजत (चाँदी) की प्रतीति होती है, किन्तु उस रजत की प्रतीति से शुक्ति के स्वरूप में कोई विकृति नहीं आती। प्रलयकाल में कार्यात्मक ब्रह्म की पूर्णता को अपने अन्दर समाहित कर कारणात्मक ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। जिस प्रकार भ्रम समाप्त हो जाने पर मिथ्या रजत प्रतीति शुक्ति में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर कार्य ब्रह्म कारण ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जैसे मिथ्यारजत के विलय से शुक्ति में विकार नहीं आता, उसी प्रकार कार्य ब्रह्म के विलय से भी कारणात्मक ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता है। अतः संसार की उत्पत्ति या प्रलय से उस पर ब्रह्म की पूर्णता प्रभावित नहीं होती वह प्रत्येक स्थिति में पूर्ण ही रहता है।

गुरु शिष्य का अध्ययन अध्यापन निर्विघ्न रूपेण पूर्णता को प्राप्त हो इस कामना के साथ शान्ति पाठ के अन्त में तीन बार शान्ति पद का उच्चारण किया गया है जो कि प्रयोजन सापेक्ष्य है क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'' अर्थात् प्रयोजन को विस्मृत कर एक मन्दबुद्धि मानव भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। मनुष्य की प्रत्येक कर्म के प्रति प्रवृत्ति प्रयोजन सापेक्ष्य ही होती है प्रयोजन निरपेक्ष नहीं। इसलिये शान्तिपाठ के अवसान में तीन बार शान्ति पद का वाचन कर इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि में आधिदैविक (दैवताओं द्वारा प्रदत्त) आधिभौतिक (मानव द्वारा प्रदत्त) आध्यात्मिक (मन या शरीर से सम्बद्ध) इन तीन प्रकार के तापों से मुक्ति की कामना की गयी है।

व्याकरण

अदः	-	अदस् शब्दः प्रथमा विभक्त्येक वचनम्।
इदम्	-	इदम् शब्दः प्रथमा विभक्त्येक वचनम्।
पूर्णात्	-	पूर्ण शब्दः पञ्चमीविभक्त्येकवचनम्।
उदच्यते	-	उत् उपसर्गः अञ्चु' गतौ धातुः, लट्, लकारः प्रथम पुरूष स्यैकवचनम्, भ्वादिगणकर्मवाच्यः।

शाङ्करभाष्यम्

पूर्णमदः पूर्णम् न कुतश्चित व्यावृत्तं व्यापीत्येतत्। निष्ठा च कर्तरि दृष्टव्या।

अदः इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम, तत् परं ब्रह्मेत्यर्थः। तत् सम्पूर्णम् आकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरूपाधिकं च। तदेव इदं सोपाधिकनामरूपस्थं व्यवहारापन्नं पूर्णम् स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव न उपाधि परिच्छिन्नेन विशेषात्मना । तदिदं विशेषापन्नं कार्यात्मकं ब्रह्म पूर्णात् कारणात्मनः उदच्यते उद्रिच्यते उद्गच्छतीत्येतत्। यद्यपि कार्यात्मना उद्रिच्यते तथापि यत् स्वरूपं पूर्णत्व- परमात्मभावः, तन्न जहाति पूर्णमेवोद्रिच्यते। पूर्णस्य कार्यात्मनों ब्रह्मणः पूर्णम् पूर्णत्वम् आदाय गृहीत्वा आत्मस्वरूपैक रसत्व मापाद्य, विद्यया अविद्याकृतं भूतमात्रो पाधि संसर्गज मन्यत्वाव भासं तिरस्कृत्य पूर्ण मेव अनन्तरमबाह्यं प्रज्ञान- धनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्म अवशिष्यते।

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतसम्बन्धभाष्यम्

ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषामकर्म शेषस्यात्मनो याथात्म्य प्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्व नित्यत्वा शरीरत्व सर्वगतत्त्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरूध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

न ह्येवं लक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृ भोक्तृत्वरूपं वा येन कर्म शेषता स्यात। सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्य निरूपणेनैव उपक्षयात्। गीतानां मोक्ष धर्माणा चैवं परत्वात्। तस्मादात्मनोऽनेकत्व कर्तृत्व भोक्तृत्वादि चाशुद्धत्व पापविद्धत्वादि चोपादाय लोक बुद्धि सिद्ध कर्माणि विहितानि।

यो हि कर्म फलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनादृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजाति रहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकार प्रयोजक धर्म वानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति।

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोक मोहादि संसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञान- मुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्संक्षेपतो व्याख्यास्याम ः।

सर्वत्र भगवद्दृष्टि तथा त्यागवृत्ति का उपदेश

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥1॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे महर्षिणा परमतत्त्वस्य विवेचनं कुर्वता स्पष्टीकृतं यद् दृश्यमानं निखिलं स्थावरजंगमादि जगत् परब्रह्मपरमेश्वरेण व्याप्तमस्ति, अत त्यागभावेन वस्तूनामुपभोगः कर्त्तव्यः।

अन्वयः

जगत्यां यत् किञ्च जगत् इदम् सर्वं ईशावास्यं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः कस्य स्विद् धनं मा गृधः।

संस्कृतव्याख्या

जगत्याम् = पृथिव्याम्, यत् किञ्च = यत् किञ्चिदपि जगत् = चराचर-जगत्, इदम् = एतत्, सर्वम् = निखिलम् ईशा = ईश्वरेण, वास्यम् = आच्छादनीयम् तेन् = तस्मात् कारणात् , त्यक्तेन = निरासक्तेन भावेन, भुञ्जीथाः =उपभोगं कुरू। कस्यस्वित् धनम् = कस्यचिदपि धनम् मा गृधः= मा काङ्क्षीः । यतोहि धनं कस्य वर्तते ? अर्थाद् धनमिदं न कस्यापि वेविद्यते, अतः सर्वैः धनस्योपभोगः निरासक्तभावेन कर्तव्यः।

शब्दार्थः

जगत्याम् = इस संसार में, यत् किञ्च=जो कुछ भी जगत् = चराचर जगत् है, इदम् = यह सर्वम् = सम्पूर्ण, ईशा= पर ब्रह्म परमेश्वर से, वास्यम् = आच्छादित है। तेन = इसलिये, त्यक्तेन = त्याग पूर्वक अर्थात् आसक्ति रहित होकर, भुञ्जीथाः = उपभोग करो। कस्यस्वित् = किसी के ,धनम् = धन की , मा गृ धः = आकांक्षा मत करो।

अनुवादः

इस सम्पूर्ण संसार में जो कुछ स्थावर जंगमादि दिखाई दे रहा है। यह सब पर ब्रह्म परमेश्वर से व्याप्त है। इसलिये त्याग वृत्ति से इसका सेवन करो। तथा किसी के भी (स्वकीय या परकीय) धन की आकांक्षा मत करो।

हिन्दी व्याख्या

संसरतीति संसारः। अर्थात् जो संसरणशील (गतिशील) हो वही संसार है।

जब संसार ही गतिशील है स्थिर नहीं है, नित्य नहीं है तो संसार में दिखाई देने वाले पदार्थ नित्य कैसे हो सकते हैं ? जो कुछ भी हम अपनी आँखों से देख रहे हैं वह सब नश्वर है। इन नश्वर पदार्थों के प्रति मनुष्य की आसक्ति केवल दुःख का कारण बन सकती है, सुख का नहीं। क्योंकि सुख को प्राप्त करने के लिये मनुष्य जिन सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त होकर दौड़ता है, उनमें सुख है ही नहीं। वास्तविक सुखानुभूति तो उस पर ब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन में है जो इस समस्त संसार में व्याप्त है। इसलिये मनुष्य यदि सांसारिक विषयों का सेवन आसक्ति का परित्याग कर निरासक्त भाव से करता है तो वह कभी दुःख को प्राप्त नहीं होगा। इन्हीं भावों को दृष्टिगत रखते हुये उक्त मन्त्र में त्याग वृत्ति के साथ जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी है, तथा कहा गया है कि- इस समस्त संसार में स्थावर जंगमादि जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह सब उस नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप पर ब्रह्म परमेश्वर से परिव्याप्त है। ईश्वरीय सत्ता एक देशीय नहीं, वह तो सार्वत्रिक है। इसीलिये भक्त शिरोमणि सन्त तुलसी दास ने कहा कि-

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।

॥ अतः ईश्वरीय सत्ता को सार्वत्रिक अङ्गीकार करते हुये, सांसारिक विषयों के प्रति लगी हुई अपने मन की वृत्ति को हटाना चाहिये। क्योंकि यह धन किसका है? किसी का नहीं। उक्त मन्त्र में ''गृधः'' पद आया है। पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'गृधः पद की निष्पत्ति आकांक्षार्थक गृध् धातु से होती है। जिसका तात्पर्य है कि आकांक्षा मत करो। अर्थात् धन स्वकीय हो या परकीय उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये, तभी वास्तविक सुखानुभूति हो सकती है। अन्यथा नहीं।

व्याकरण

- **ईशा** - ऐश्वर्यार्थक ''ईश्'' धातुः, क्विप् प्रत्ययः तृतीयैकवचनस्यरूपमिदम्।
- **वास्यम्** - ''वस्'' धातुः ण्यत् प्रत्ययः।
- **सर्वम्** - सर्व शब्दः प्रथमैकवचनस्य रूपमिदम्।
- **जगत्याम्** - जगतीशब्दः सप्तम्येकवचनस्यरूपमिदम्।
- **त्यक्तेन** - ''त्यज्'' धातुः क्तप्रत्ययः, तृतीयैकवचनम्

- **भुञ्जीथाः** ''भुज्'' धातुः, विधिलिङ्ग मध्यम पुरूषैकवचनम्, आत्मनेपदम्।
- **गृधः** आकांक्षार्थक 'गृध्'' धातुः, लोट् लकारः मध्यम पुरुषैकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

ईशावास्यमित्यादि । ईशा ईष्टे इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मासन्प्रत्यगात्मतया, तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्। किम् ? इदं सर्वं यत् किञ्च यत् किञ्चिज्जगत्यां प्रथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मनेशेन प्रत्यगात्म तयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थ सत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।

यथा चन्दनागर्वादेरूदकादिसम्बन्धज क्लेदादिज मौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूप निघर्षणेनाच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन। तद्वदेन हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्व भोक्तृत्वादि लक्षणं जगद्द्वैत रूपं जगत्यां प्रथिव्यां जगत्यामित्युप लक्षणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकार जातं परमार्थ सत्यात्म भावनया त्यक्तं स्यात्। एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्र सन्यासएवाधिकारो न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः। न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धि ताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्यय मेव वेदार्थः। भुञ्जीथाः पालयेथाः। एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधिमाकांक्षां मा कार्षी र्धन विषयाम्। कस्य स्विद्धनं कस्यचित् परस्य स्वस्य वा धनं मा कांक्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः। अथना मा गृधः। कस्मात् ? कस्यस्विद्धनमित्या क्षेपार्थे न कस्यचिद्धनमस्ति यद् गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वर भावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्या विषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः।

देहाभिमानी के लिये कर्म का उपदेश

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवंत्वयि नान्य थेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥2॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे महर्षिः देहाभिमानिनं कर्म निष्ठायाः उपदेशं ददाति, यथा-

अन्वयः

इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समाः जिजीविषेत्। एवं नरे त्वयि इतः अन्यथा न अस्ति। (यथा) कर्म न लिप्यते।

संस्कृत व्याख्या

इह = अस्मिन् लोके, कर्माणि = अग्नि होत्रादीनि शास्त्रविहित कर्माणि, कुर्वन्नेव = सम्पादयन्नेव, शतम् = शत संख्याकाः, समाः = वर्षाणि, जिजीविषेत् = जीवितुमिच्छेत्। एवम् = अनेन प्रकारेण, नरे = मनुष्यत्वाभिमानिनि, त्वयि= भवति, इतः = अस्मात् (भिन्नः) अन्यथा = अन्यो मार्गः, न अस्ति = न वर्तते, (यथा = येन) कर्म = अशुभं कर्म, न लिप्यते = लिप्तं न भूयते। अतः शास्त्रविहितानि कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्।

शब्दार्थः

इह = इस संसार में, कर्माणि = शास्त्र विहित कर्मों को कुर्वन्नेव = करते हुये ही, शतं समाः = शत संवत्सर पर्यन्त, जिजीविषेत् = जीने की इच्छा करे। एवम् = इस प्रकार, नरे = देहाभिमानी, त्वयि =तेरे लिये इतः = इसके अतिरिक्त, अन्यथा = अन्य कोई मार्ग, न अस्ति = नहीं है।, (यथा = जिससे) कर्म = अशुभ कर्म से न, लिप्यते = लिप्त न हो।

अनुवादः

इस संसार में शास्त्र विहित कर्मों को करते हुये ही सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे। इस प्रकार तुझ देहाभिमानी के लिये अन्य कोई ऐसा मार्ग नहीं है जिससे तुम कर्म से लिप्त न हो।

हिन्दी व्याख्या

इस चराचर जगत् में प्रमुख रूप से दो प्रकार के साधक हैं, एक तो ज्ञान योगी, दूसरे कर्मयोगी। ज्ञानयोगियों की दृष्टि में "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" आदि श्रुतियों के

अनुसार मुक्ति अर्थात् मोक्षावाप्ति हेतु ज्ञान ही सर्वोपरि है। और वह आत्म ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है, जब तक सांसारिक विषयों को ही शाश्वत सत्य मानकर इनमें आसक्त हुआ मन सांसारिक विषयों की नश्वरता से अवगत होकर पूर्णरुपेण इनसे विमुख न हो जाये। क्योंकि भक्त तुलसीदास के अनुसार अविनाशी यह जीव ईश्वरांश है। और वह ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है।

सत का तात्पर्य है जिसका अस्तित्व भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों में रहे, अर्थात् त्रैकालावाधित सत्य ही सत् है **चित** का तात्पर्य है प्रकाश से, अर्थात् वह ईश्वर स्वयं प्रकाश स्वरूप है। उसे किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं। साथ ही वह पर ब्रह्म परमेश्वर परम **आनन्द स्वरुप** भी है। इसलिये जो ईश्वर सत् चित् तथा आनन्दस्वरूप है उसके अथवा ईश्वरांश आत्मा के निरन्तर चिन्तन मनन व निदिध्यासन से ही परमानन्दानुभूति पूर्वक मुक्ति सम्भव है सांसारिक विषयों के चिन्तन या सेवन से नहीं। क्योंकि सांसारिक विषयों में आनन्द है ही नहीं, उनमें जिस सुख की अनुभूति होती है वह तो क्षणिक है। तथा वह क्षणिक सुखानुभूति कदापि मुक्ति का साधन नहीं हो सकती। मुक्ति तो आत्मज्ञान के द्वारा ही सम्भव है।

किन्तु इस संसार में अधिकांश व्यक्ति ऐसे है जो कि आत्मज्ञान से शून्य हैं आत्मज्ञान शून्य व्यक्तियों की दृष्टि में स्थूल शरीर ही सत्य है इसलिये ऐसे व्यक्ति स्वयं को स्थूल शरीर स्वरूप ही समझते हैं, अतः वे आजीवन शरीर के ही पालन पोषण तथा अनेक प्रकार के भोगों को भोगने की तृष्णा के साथ जीवन जीते हैं। इसलिये सांसारिक विषयासक्त तथा आत्मज्ञान विहीन व्यक्तियों के लिये प्रस्तुत मन्त्र में कर्म निष्ठा का उपदेश किया गया है।

यदि कोई मनुष्य "देहोऽहम्" इस मिथ्याभिमान से युक्त है, तथा इस संसार में शास्त्र द्वारा प्रतिपादित सौ या इससे अधिक वर्षों तक जीना चाहता है तो उसका पुनीत कर्तव्य है कि वह शास्त्र विहित कर्मों को करते हुये ही जीने की इच्छा करे। शास्त्र निषिद्ध कर्मों को करते हुये अथवा कर्म फल की इच्छा के साथ जीवन न जिये। श्रीमद् भगवद् गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के लिये उपर्युक्त दोनों बातों का उपदेश करते हुये कहा कि हे अर्जुन !-

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

अर्थात् जो मनुष्य शास्त्र विधि को परित्याग कर मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त करता है, न परमगति तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। कर्म फल की इच्छा को त्यागने हेतु उपदेश देते हुये भगवान कृष्ण ने अर्जुन के लिये कहा कि हे अर्जुन !

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतु र्भू र्मा ते सङ्गो.स्त्व कर्मणि ।।

अतः मनुष्य को चाहिये कि वह कर्म फलासक्ति को त्यागकर अनासक्त भाव से शास्त्र विहित कर्मों को करे। तभी व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं। भगवान कृष्ण ने भी कहा कि-

अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ।।

त्यक्त्वा कर्मफला सङ्गंनित्य तृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्याभि प्रवृतोऽपि नैवकिञ्चित करोति सः ।।

अर्थात् हे अर्जुन ! जो व्यक्ति कर्मों तथा कर्म जन्य फलासक्ति को त्याग करके निरासक्त भाव से कर्म करता है, वह कर्म में प्रवृत्त होते हुये भी कुछ नहीं करता। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कर्मों के स्वरूप को समझे। शास्त्रों में तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन मिलता है।

श्रीमद भागवत् महापुराण के ग्यारहवें स्कन्ध के तृतीय अध्याय में तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन करते हुये कहा है कि-

कर्माकर्म विकर्मेति वेद वादो न लौकिकः।
वेदस्यचेश्वरात्मत्वात तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।।

अर्थात् शास्त्रों के द्वारा जिनका विधान किया गया है वे कर्म कहलाते है। तथा शास्त्रों के द्वारा जिनका निषेध किया गया हैं वे अकर्म कहलाते हैं एवं विहित कर्मों का उल्लंघन करना ही विकर्म है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के कर्मों को वेद के द्वारा ही जाना जा सकता है लौकिक रीति में नहीं। वेद स्वयं ईश्वर रूप है इसलिये उनके तात्पर्य का निश्चय करना बहुत कठिन है।

अतः कर्म, अकर्म, तथा विकर्म के स्वरूप को समझकर ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि कर्मों की गति बहुत ही गहन है। वेदों की भाषा परोक्षवादात्मक है। अर्थात् जहाँ शब्दार्थ कुछ और हो तथा तात्पर्यार्थ कुछ और हो वह परोक्षवाद कहलाता है। वेदों के द्वारा यदि कहीं सकाम कर्मों का विधान किया गया है तो वह कर्मों से निवृत्त होने के लिये ही किया गया है।

जैसे किसी अल्पवयस्क शिशु के लिये मिठाई का लालच देकर औषधि खिलाई जाती हैं, उसी प्रकार वेदों के द्वारा अनभिज्ञ व्यक्तियों को स्वर्ग आदि का प्रलोभन देकर सकाम कर्मों में प्रवृत्त किया गया है। जिसे आत्मज्ञानानन्द की अनुभूति नहीं हुई तथा जो अजितेन्द्रिय है ऐसा व्यक्ति शास्त्र विहित कर्मों का परित्याग कर यदि स्वेच्छानुसार आचरण करता है तो वह विकर्म रूप अधर्म को प्राप्त होता है । विकर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति ''पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्'' की प्रक्रिया से कभी मुक्त नहीं हो पाता। इसलिये कर्म फलासक्ति को त्याग कर भगवदार्पण बुद्धि से जब व्यक्ति शास्त्र विहित कर्मों को करते हुये सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करता है तो वह कर्म जन्य बन्धन को प्राप्त नहीं होता।

कर्म-जन्य-बन्धन- विमुक्त्यर्थ भगवान कृष्ण ने भी कहा कि हे अर्जुन!

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदार्पणम्।।

शुभाशुभ फलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्यास योग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

अर्थात् तू जो कछ भी करता है वह समस्त कर्म मुझे अर्पण कर दे, ऐसा करने से तू शुभाशुभ फलरूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेगा। अतः प्रस्तुत मन्त्र में भी ऋषि द्वारा प्रोक्त ''एव'' पद इस बात का ज्ञापक है कि व्यक्ति को वेदोक्त कर्मों का आचरण करते हुये ही जिजीविषा रखनी चाहिये वेद निषिद्ध कर्मों का आचरण करते हुये नही।

वेदोक्त कर्मों के निरन्तर करते रहने से एक स्थिति अन्त में ऐसी आती है कि जब मनुष्य के समस्त कर्म कामना तथा संकल्प से रहित हो जाते हैं, तथा हृदय में ज्ञान रूपी अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उसके समस्त कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। वस्तुतः यह जीव ईश्वर का ही अंश है किन्तु अविद्या के आवरण से आच्छादित होने

के कारण मनुष्य के अन्तःकरण में **कर्तृत्व का भाव रहता है** इसी कारण यह जीव **बार-2** कर्मजन्य बन्धन को प्राप्त होता है। इसलिये प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि ने स्पष्ट रूप से कहा कि निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्मों को करने के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा मार्ग नहीं है जिससे यह जीव कर्म बन्धन को प्राप्त न हो।

व्याकरण

कुर्वन् - कृ धातुः शतृ प्रत्ययः।

कर्माणि - कर्म शब्दः द्वितीया विभक्ति बहुवचनम्।

जिजीविषेत् - जीव् धातुः सन् प्रतययः, विधिलिङ् प्रथम पुरूषैकवचनम्।

त्वयि - युष्मद शब्दः, सप्तमी विभक्त येकवचनम्।

कर्म - कर्मन् शब्दः प्रथमा विभक्त येकवचनम्।

नरे - नर शब्दः सप्तमी विभक्त येकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतयात्मा रजगत्व्य इत्येष वेदार्थः। अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः-

कुर्वन्नेवेति। कुर्वन्नेव निवर्तयन्नेव इह कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छत शत संख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्। तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत् कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद् विधीयते। एवम्प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नर मात्राभिमानिनी इतः एतस्मादग्नि होत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात् प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यते इत्यर्थः। अतः शास्त्र विहितानि कर्माण्यग्नि होत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्।

कथं पुनरिदमवगम्यते। पूर्वेण मन्त्रेण सन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेत्युच्यते। ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवद् कम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि कि ? इहाप्युक्तं यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्। ईशा वास्य मिदं सर्वं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति च। न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्य मियादिति च पदम्। ततो न पुनरियादिति सन्यास शासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति।

इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात् सन्यासश्चोत्तरेण निवृत्ति मार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः। तयोः सन्यास पथ एवातिरेचयति। "न्यास एवात्यरेचयदिति च तैत्तिरीयके।

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्ति लक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः ॥

इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता विभागं चानयोर्दर्शयिष्यामः।

आत्मज्ञान विहीन जन की निन्दा

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति येके चात्महनो जनाः ॥3॥

प्रसंग :

मन्त्रेऽस्मिन् ऋषिः आत्म ज्ञान विहीनं जनं निन्दयति। यथा-

अन्वयः

असुर्याः नाम लोकाः ते अन्धेन तमसा आवृताः। ये के च आत्महनः जनाः ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति।

संस्कृत व्याख्या

असुर्याः = असुर सम्बन्धिनः, नाम = प्रसिद्धाः, लोकाः= स्व भूताः लोकाः, ते = ते लोकाः, अन्धेन = अदर्शनात्मकेनाज्ञानेन, तमसा = अन्धकारेण, आवृताः = आच्छादिताः सन्ति।

ये के च = ये केचिद् जनाः च, आत्महनः = आत्मघातिनः, जनाः = नराः वर्तन्ते, ते = आत्मज्ञान शून्याःब प्रेत्य= पञ्चत्वं प्राप्य, तान् = पूर्वोक्तान् लोकान्, अभिगच्छन्ति = संसरन्ति, पौनः पुन्यं प्राप्नुवन्ति।

शब्दार्थः

असुर्याः = असुर सम्बन्धि (जो) नाम = प्रसिद्ध, लोकाः= लोक हैं, ते = वे

सब, अन्धेन = आदर्शनात्मक, तमसा = अन्धकार के आवरण से, आवृताः = आच्छादित हैं ये के च = जो व्यक्ति, आत्महनः = आत्मघाती, जनाः = मनुष्य हैं, ते = वे प्रेत्य = मृत्यु के पश्चात्, तान् = उन्हीं (पूर्वोक्त असुर सम्बन्धि लोकों) को अभिगच्छन्ति = पुनः पुनः प्राप्त होते हैं।

अनुवादः

वे असुर सम्बन्धि लोक आत्म अदर्शन रूपी अज्ञानान्धकार के आवरण से आच्छादित हैं तथा आत्म हनन करने वाले मनुष्य मृत्यु के पश्चात उन्हीं लोकों को प्राप्त होते हैं।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में अज्ञानी की निन्दा करते हुये ज्ञान के उत्कर्ष को प्रतिपादित किया गया है। अज्ञानी जन की निन्दा से पूर्व ज्ञान के स्वरूप का हृदय में अवस्थित होना परमावश्यक है। पाणिनि व्याकरण के अनुसार ज्ञान शब्द अववोधनार्थक ज्ञा धातु से निष्पन्न होता है। ज्ञान का तात्पर्य है जानना। अर्थात् आत्मज्ञान । मैं कौन हूं ? कहाँ से आया हूँ ? इस संसार में मेरे आने का उद्देश्य क्या है ? अतः जीव तथा ब्रह्म विषयक ज्ञान ही आत्म ज्ञान है। जिस मनुष्य के पास केवल इंजीनियरिंग, राजनीति, विज्ञान, अथवा चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान है तो ऐसे मनुष्य का यह सांसारिक ज्ञान आजीविका आदि का साधक तो हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् में पारलौकिक दृष्टि से हितकारक सिद्ध नहीं हो सकता। अतः मनुष्य के लये यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन में सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक उन्नति के साथ-2 आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी निरन्तर प्रयत्न शील रहे। आध्यात्मिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है मनुष्य सर्व प्रथम आत्म तत्त्व के स्वरूप को समझ कर उसे हृदयङ्गम करे।

आत्मज्ञान शून्य व्यक्ति ही वस्तुतः आत्मघाती है। **आत्मानं हन्ति यः सः आत्मघाती।** अर्थात् ज्ञान से शून्य, सांसारिक विषयों में आसक्त होकर, आत्मा का तिरस्कार करने वाला मनुष्य ही आत्मघाती है। ऐसे आत्मघाती मनुष्य उन असुर सम्बन्धि लोकों को प्राप्त होते हैं जो आत्म अदर्शन रूपी आज्ञानान्धकार से आच्छादित है। ''असुर'' शब्द का तात्पर्य है कि असुषु = प्राणेषु रमन्ते ये ते असुराः अर्थात् इस पाञ्च भौतिक देह को ही शाश्वत् सत्य मानकर इसी के भरण पोषण में जो सदैव लगा रहता है

वही असुर है। अपनी आत्मा का हनन करने वाले यह असुर ही कर्म जन्य फलों को भोगने के लिये पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं एक जन्म के पश्चात पुनः अगले जनम में जीवन जीते हुये दुःख रूपी अन्धकार के आवरण से युक्त भोगों को प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि सत्सङ्ग आदि के माध्यम से अपने जीवन में अविवेक को निवृत्त कर आत्मज्ञान विषयक ज्ञानावाप्ति हेतु प्रयत्नशील रहे।

व्याकरण

असुराः- न सुरः इति असुरः। असुर + यत् + जस् = असुर्याः।

नाम	-	नाम शब्दः अनर्थको निपातः।
लोकाः	-	लोक+ जस् प्रथमा बहुवचन।
अन्धेन	-	अन्ध+ टा तृतीया एक वचन।
तमसा	-	तमस् + टा तृतीयाएक वचन।
प्रेत्य	-	प्र + इ + ल्यप्
अभिगच्छन्ति	-	अभि + गम् लट् लकार प्रथम पुरूषैकवचन।
आत्महनः	-	आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। आत्मन् + हन् + क्विप्।

शाङ्करभाष्यम्

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते - असुर्याः परमात्म भावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। नाम शब्दोऽनर्थको निपातः। ते लोकाः कर्म फलानि। लोकयन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिताः तान् स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथा कर्म यथाश्रुतम्। ये चात्महनः आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः ये ऽ विद्वान्सः। कथं त आत्मानं नित्यं हिन्सन्ति। अविद्या दोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात्। विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादि संवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता विद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्म हनन दोषेण संसरन्ति ते।

आत्मा के स्वरूप का वर्णन

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥4॥

प्रसंग :

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे महर्षिः आत्मनः स्वरूपं वर्णयन कथयति यत्-

अन्वयः

तत् अनेजत् एकं मनसः जवीयः पूर्वमर्षत् एनत् देवाः न आप्नुवन्। तत् अन्यान् धावतः तिष्ठत् अत्येति तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति।

संस्कृत व्याख्या

तत् = तत्आत्मतत्त्वम्, अनेजत् = कम्पनरहितम्, एकम् = एकत्व विशिष्टम्, मनसः = चेतसः जवीयः = तीव्रगतिशीलः, पूर्वम् = आदौ, अर्षत् = गतम्, एनत् = एनम् आत्मानम्, देवाः = इन्द्रियाणिः, नआप्नुवन् = न प्राप्नुवन् । (तत्)= तत् आत्मतत्त्वम्, अन्यान् अपरान्, धावतः = धावनं कुर्वतः, तिष्ठत् = अचलत् अत्येति = अति क्रमणं करोति, तस्मिन् = आत्मतत्त्वे सति, मातरिश्वा = वायुः, अपः = कर्माणि, प्राणिनां चेष्टा लक्षणानि वा, दधति = धारयति।

शब्दार्थः

तत् = वह आत्मतत्त्व, अनेजत् = कम्पन से रहित, एकम् = एक मनसः = मन से (भी) जवीयः = तीव्र वेगवाला है। पूर्वम् अर्षत् = सब इन्द्रियों से पहले गया हुआ है। (इसलिये)एनत् = इस आत्मतत्त्व को देवाः = द्योतन शील चक्षुरादि इन्द्रियाँ, न आप्नुवन् = प्राप्त नहीं कर सकीं। तत् = वह आत्मतत्त्व, अन्यान् = अन्य सब, धावतः = गतिशीलों का, तिष्ठत् = स्थिर होने पर भी, अत्येति = अतिक्रमण कर जाता है। तस्मिन् = उस आत्मतत्त्व के होने पर ही, मातरिश्वा = वायु, अपः = कर्मों का अर्थात् प्राणियों के प्रवृत्ति रूप कर्मों का दधाति = विभाग करता है।

अनुवादः

वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से कभी भी विचलित न होने वाला है एवं मन से भी अधिक द्रुत गति वाला है। उस आत्मतत्त्व की सत्ता इन्द्रियों से भी परे है, इसलिये उसे इन्द्रियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह अन्य गतिशील पदार्थों का स्थिर होने पर भी अति क्रमण कर जाता है। उस आत्मतत्त्व का अस्तित्व होने पर ही वायु समस्त जीवों के प्रवृत्ति रूप कर्मों का विभाजन करता है।

हिन्दी व्याख्या

पाणिनि व्याकरण के अनुसार **मोक्ष** शब्द की निष्पत्ति **''मुच्''** धातु से होती है जिसका अर्थ है त्याग। अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति हमारे मन में जो आसक्ति है उसका परित्याग जब तक नहीं होगा, तब तक मोक्षावाप्ति सम्भव नहीं। सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य तब तक जागृत नहीं हो सकता जब तक कि आत्मतत्त्व का बोध न हो जाये। इसलिये उस आत्म तत्त्व का स्वरूप कैसा है? यही विवेचन प्रस्तुत मन्त्र में करते हुये कहा गया है कि-

वह आत्मा **अनेजत्** (कम्पन रहित) है। न एजत इति अनेजत्। ''एजृ'' कम्पने धातु से शतृ प्रत्यय व नञ् समास करने पर उक्त शब्द निष्पन्न होता है। इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि यह आत्मा अचल है। अचल होने से ईश्वर के अंश रूप इस आत्मा की सर्व व्यापकता परिलजगत् होती है। सर्व व्यापक यह आत्मा वास्तव में एक है किन्तु उपाधि भेद से अनेक रूपों में भासित होता है। यह आत्मा मन से भी अधिक तीव्र गति वाला है जितने समय में मन जिस स्थान पर पहुँचता है सर्व व्यापक होने से आत्मा वहाँ पहले से ही विद्यमान है इसलिये शास्त्रकारों ने आत्मा को **मनसो जवीयः** (मन से भी अधिक तीव्र गति वाला) बताया। वैसे भी आत्मा की सत्ता मन से परे है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि-

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुतमम्।
सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥

अर्थात् रूपरसादि विषयों को ग्रहण करने वाली चक्षुरादि इन्द्रियों से परे मन की सत्ता है। मन से भी परे बुद्धि की सत्ता है। बुद्धि से परे आत्मा, तथा आत्मा से परे अव्यक्त प्रकृति है। इसी बात को भगवान कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन !

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परसस्तु सः ।।

अतः जिस स्थूल शरीर से परे सत्ता इन्द्रियों की, तथा इन्द्रियों से परे मन की, तथा मन से भी परे जो नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, उसको इन इन्द्रियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह इन्द्रियाँ वहिर्मुखी है। इन इन्द्रियों से रूप रसादि सांसारिक विषयों का ग्रहण तो हो सकता है किन्तु आत्मा का नहीं। यह आत्मा न तो वाणी का विषय है न मन एवं चक्षु का। यह तो श्रद्धा एवं विश्वास के साथ मात्र अनुभव गम्य है। यह आत्मा स्वयं अचल व विकार रहित है, तथा विषयों से आकृष्ट होकर उनकी ओर जाने वाली इन्द्रियों व मन का यह आत्मा अतिक्रमण कर जाता है। इस आत्म तत्त्व के रहने पर ही मातरिश्वा (वायु) संसार के सब जीवों में चेष्टा रूप कर्मों को निष्पन्न करता है। इस आत्मतत्त्व के अस्तित्त्व से ही इस पाञ्च भौतिक देह में सभी इन्द्रियाँ गतिशील रहती हैं, इनके निकलते ही समस्त इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। आत्मतत्त्व का अस्तित्त्व होने पर ही मातरिश्वा (वायु) या अन्य देवता अपना-2 कार्य करते हैं कठोपनिषद् में कहा गया है कि-

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु र्धावति पञ्चमः ।।

अर्थात् उस नित्य शुद्ध बद्ध चैतन्य स्वरूप के भय से ही अग्नि तपता है, सूर्य प्रकाशित होता है, तथा इन्द्र वायु, व पाँचवे मृत्यु देवता दौड़ते है।

व्याकरण

अनेजत् - एजृ+ शतृ = एजत्। न एजत् इति अनेजत्।

मनसः - मनस्+ ङस् पञ्चम्येकवचनम्।

जवीयः - जव + मतुप्+ ईयसुन् (''विन्मतोर्लुक्'' पा. सू. 5.3.65 इति सूत्रेण मतुप् प्रत्ययस्य लोपे, सस्य रूत्वे विर्गे च कृते जवीय शब्दः निष्पद्यते।

देवाः - दिव् धातोः अच् प्रत्यये, लघूपधगुणे च गुणे कृते देव शब्दःनिष्पद्यते। देवाः इति पदं प्रथमा बहुवचनान्तम्।

आप्नुवन् - आप् धातुः लङ् लकारः प्रथम पुरूषस्य बहुवचनम्।

तस्मिन् - तत् शब्दः सप्तम्येकवचनम्।

दधाति - ''डु धाञ्'' धारण पोषणयोः धातुः लट् लकारः प्रथमपुरुष स्यैकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्येण विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते नात्महनः तत् कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते-

अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एजृ कम्पने, कम्पनं चलनम् स्वावस्था प्रच्युतिस्तृद् वर्जितम् सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकं सर्वभूतेषु मनसः सङ्कल्पादि लक्षणाद् जवीयों जववत्तरम। कथं विरूद्धमुच्यते- ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च ?

नैष दोषः। निरूपाध्युपाधिमत्वेनोपपत्तेः। तत्र निरूपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते। अनेजदेकमिति। मनसोऽन्तः करणस्य संकल्प विकल्प लक्षणस्योपाधेरनुवर्तनाद इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादि दूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्राद् भवतीत्यतोमनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन् मनसि ब्रह्म लोकादीन्द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह।

नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतप्रकृतमात्मतत्त्वं नाप्नुवन्न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनो जवीयः मनो व्यापार व्यवहितत्त्वात् आभासमात्रमपि आत्मनो नैव देवानां विषयी भवति। यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत् पूर्वमेव गतं व्योमवद् व्यापित्वात्। सर्व व्यापि तदात्मतत्त्वं सर्व संसारधर्मवर्जितम् स्वेन निरूपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रयमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीत्यविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह। तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनो वागिन्द्रियप्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छति इव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति तिष्ठदिति। स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः।

तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्य चैतन्य स्वभावे मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकारण जातानि यस्मिन्नेतानि प्रोतानि च यत्सूत्र संज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वाः अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्य पर्जन्यादीनांज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादि लक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः। धारयतीति वा ''भीषास्माद्वातः पवते-- इत्यादि

श्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्य चैतन्यात्म स्वरूपे सर्वास्पद भूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः।

आत्मा के स्वरूप का वर्णन

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥5॥

प्रसंगः- प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे महर्षिः आत्मनः स्वरूपं वर्णयन् कथयति यत्-

अन्वयः

तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे, तत् उ अन्तिके, तत् अस्य सर्वस्य अन्तः, तत् अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः।

संस्कृत व्याख्या

तत् = तत् आत्मतत्त्वम्, एजति = चलति, तत् = आत्मतत्त्वम्, न एजति = न प्रचलति, तत् = ब्रह्मतत्त्वम्, दूरे = अनिकटे, तत्उ = तदेव, अन्तिके = समीपे वेविद्यते। तत् = ब्रह्म, अस्य सर्वस्य = निखिल जगतः, अन्त = आभ्यन्तरे, तत् = ब्रह्म, अस्य सर्वस्य = अस्य निखिल जगतः, उ = अपि, बाह्यतः = बाह्य भागेऽपि वर्तते। अतः इदं ब्रह्म अस्य जगतः बाह्याभ्यन्तरे सर्वत्रैव विद्यमानत्वेनानुभूयते।

शब्दार्थः

तत् = वह (आत्मा) एजति = चलता है, तत् = वह (आत्मा) न एजति = नहीं (भी) चलता है। तत् = वह दूरे = अत्यधिक दूर है, ततउ = वहीआत्मा, अन्तिके = अत्यन्त निकट भी है। तत् = वह आत्मा, अस्य = इस सर्वस्य = समस्त (संसार) के अन्तः = अन्दर है, तत् उ = (तथा) वही अस्य = इस, सर्वस्य = सबके बाह्यतः = बाहर भी है।

अनुवादः

वह आत्मा गतिशील भी है और नहीं भी। वह अत्यन्त दूर भी है एवं अत्यन्त समीप भी। वह आत्मतत्त्व सबके अन्दर भी विद्यमान है एवं सब के बाहर भी अवस्थित है।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि ने आत्मतत्त्व की व्यापकता का वर्णन करते हुये कहा है कि वह पर ब्रह्म परमेश्वर सर्व शक्तिमान है। "**कर्तुंमकर्तुमन्यथा कर्तुं सर्व समर्थः ईश्वरः**" अर्थात् जो सम्भव को असम्भव तथा असम्भव को भी सम्भव कर सके वही ईश्वर है। इसलिये वह चलता भी है और नहीं भी चलता।

भगवान ने गीता में अर्जुन के लिये उपदेश देते हुये कहा कि हे अर्जुन! जब-2 पृथवी पर धर्म का ह्रास तथा अधर्म का उत्थान होता है तब-2 मैं किसी न किसी रूप में अवतरित होकर धर्म की स्थापना करता हूँ। सगुण रूप में भगवान के प्राकट्य के उद्देश्य को बताते हुये सन्त तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में कहा कि-

जब जब होय धर्म की हानि।
बाड़ई असुर अधम अभिमानी॥

तब-2 प्रभुधरि मनुज शरीरा।
हरई कृपानिधि सज्जन पीरा॥

अतः स्पष्ट है कि भगवान का जब किसी उद्देश्य विशेष के लिये प्राकट्य होता है, तब वे सगुण रूप में चलते भी हैं, तथा अनेक प्रकार की क्रियायें कर अपने भक्तों का प्रिय करते है। किन्तु जब वहीं पर ब्रह्म परमेश्वर निर्गुण निराकार होकर सर्व व्यापक रूप से संसार में विद्यमान रहता है तो वह नहीं चलता। क्योंकि सम्पूर्ण संसार के कण कण में विद्यमान रहने वाले उस ईश्वर के लिये कोई भी स्थान ऐसा है ही नहीं जहाँ कि उसकी सत्ता विद्यमान न हो। गमन रूप क्रिया वहीं होती है जो स्थान पहले से रिक्त हो किन्तु जो आत्मतत्त्व पहले से ही सर्वत्र विद्यमान है वहाँ उसका गमन कैसे हो सकता है?

उदाहरणार्थ रिक्त घट को जल से भरा जा सकता है किन्तु जो घट पहले से ही जल से परिपूर्ण है उसमें जल नहीं भर सकता। इसलिये वह आत्मतत्त्व जब सगुण साकार रूप में अपने भक्तों का मनोरथ पूर्ण करने के लिये पृथवी पर अवतरित होता है तब वह चलता हुआ (गतिशील) प्रतीत होता है, तथा जब वही निर्गुण निराकार रूप में रहता है, तो वह सब कुछ करते हुय भी कुछ नहीं करता। इससे उस आत्मतत्त्व की सर्व व्यापकता तथा सर्व शक्ति सम्पन्नता परिलजगत् होती है।

यह आत्म तत्त्व दूर से दूर भी है तथा अत्यन्त समीप भी। जब हमारा मन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है तब वह आत्मतत्त्व हमसे बहुत दूर रहता है। किन्तु जब हम अपनी चित्त वृत्ति को संसार के विषयों से हठाकर आत्म चिन्तन में लगाते हैं तब उसी आत्मतत्त्व को हम अपने अत्यन्त समीप में अनुभव करते है। इसलिये आत्मा का दूरस्थ होना या समीपस्थ होना हमारे चित्त की वृत्ति पर निर्भर करता है।

हमारा चित्त संसार के विषय भोगों में यदि आसक्त है तो वह आत्मा दूरस्थ प्रतीत होता है। यदि हमारा चित्त विषय भोगों से विमुख हो निरन्तर उस तत्त्व के चिन्तन मनन निदिध्यासन में रत रहता है तो वह आत्मा सदैव हमारे पास है। वस्तु स्थिति तो यह है कि वह आत्म तत्त्व सम्पूर्ण संसार में समान रूप से विद्यमान है, उसका अनुभव करने के लिये केवल प्रेम की आवश्यकता है। सन्त तुलसीदास ने रामचरित मानस में कहा है कि-

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम से प्रकट होई मैं जाना ॥

अतः वह आत्मतत्त्व दूरस्थ भी है तथा समीपस्थ भी। एवं वह संसार के अन्दर बाहर अर्थात् कण कण में उसकी सत्ता विद्यमान है।

व्याकरण

एजति 'एजृ'' कम्पने धातुः लट् लकारः प्रथम पुरूषस्यैकवचनम्

अन्तर अन्तर इति अव्ययपदम्।

सर्वस्य सर्व शब्दः षष्ठ्येकवचनम्।

अस्य इदम् शब्दः षष्ठ्येकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

न मन्त्राणां **जामितास्तीति** पूर्व **मन्त्रोक्तमप्यर्थं** पुनराह- तदेजतीति। तदात्मतत्त्वंयत्प्रकृतं **तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति** स्वतोऽचलमेव

सत् चलतीवेत्यर्थः। किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद् दूर इव। तद उ अन्तिके इतिच्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिक च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य ''य आत्मा सर्वान्तरः'' (वृ. आ. उ. 3/4/11) इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नाम रूप क्रियात्मकस्य तद् अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाश वन्निरतिशय सूक्ष्मत्वात् अन्तः। ''प्रज्ञान धन एव'' (वृ.आ. उ. 4/5/13) इति च शासनान्निरन्तरं च।

अभेददृष्टि का निरुपण

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥6 ॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे ऋषिः अभेद दृष्टिं निरूप्य तस्याः फलमपि निरूपयति।

अन्वयः

यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति सर्व भूतेषु च आत्मान् ततः न विजुगुप्सते ॥

संस्कृत व्याख्या

यः तु = यः मुमुक्षुः, सर्वाणि = निखिलानि, भूतानि = प्राणिनः, आत्मनि एव = परमात्मनि एव, अनुपश्यति = अवलोकयति, सर्वभूतेषु च = सर्व जीवेषु च, आत्मानम् = आत्मतत्त्वम् अनुपश्यति अवलोकयति। ततः = तस्मादेव दर्शनात्, न विजुगुप्सते = घृणां न करोति।

शब्दार्थः

यः तु = जो ज्ञानवान पुरुष, सर्वाणि = समस्त, भूतानि = जीवों को, **आत्मनि** = आत्मा में, एव = ही, अनुपश्यति = देखता है, सर्व भूतेषु च = और सम्पूर्ण प्राणियों में, आत्मानम् = आत्मतत्त्व का (दर्शन करता है) ततः= इस अभेद दृष्टि के कारण, न विजुगुप्सते = (वह व्यक्ति) किसी से घृणा नहीं करता।

अनुवाद :

जो ज्ञानवान पुरूष समस्त भूतों को आत्मतत्त्व में अवलोकन करता है तथा समस्त भूतों में आत्मा का दर्शन करता है वह किसी से घृणा नहीं करता ।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में अभेद दृष्टि का निरूपण करते हुये कहा गया है कि जो साधक "सर्वं स्वल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति को आत्मसात कर सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करता है उसकी भेद बुद्धि सदैव के लिये समाप्त हो जाती है। वह समस्त भूतों (जीवों) में आत्मा का दर्शन करता है।भेद बुद्धि तो उन अज्ञानियों में रहती है जो इस पाञ्चभौतिक देह को ही सत्य मानते है। किन्तु जिन्हें यह ज्ञान हो चुका है कि यह शरीर तो नश्वर है। इस शरीर में रहने वाला आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तथा वह आत्मा एक ही है, केवल उपाधि भेद से प्रथक् प्रथक् भासित होता है, फिर भेद बुद्धि क्यों ?

आत्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन करते-2 जब समस्त जीवों में आत्मा का तथा आत्मा में सम्पूर्ण जीवों का दर्शन होने लगता है तब सब के प्रति समत्व बुद्धि पैदा हो जाने के कारण न तो किसी के प्रति राग रहता है और न ही किसी के प्रति द्वेष। राग द्वेष से विमुक्त हुआ साधक कभी किसी से घृणा नहीं करता । क्योंकि उसे सर्वत्र आत्मतत्त्व का ही दर्शन होता है। इन्हीं भावों को प्रकट करते हुये सन्त तुलसीदास ने लिखा कि-

सिया राम मय सब जग जानी।
करहु प्रणाम जोरि जुग पानी ॥

अर्थात् यह सम्पूर्ण संसार सीताराम का रूप है जो कि वन्दन करने योग्य है न कि घृणा के योग्य। अतः प्रस्तुत मन्त्र में सर्वत्र अभेद दृष्टि के फल का निरूपण करते हुये ज्ञान की पराकाष्ठा का प्रतिपादन किया गया है।

व्याकरण

सर्वाणि सर्वशब्दः नपुं· प्रथमा बहुवचनम्।

भूतानि भूतशब्दः प्रथमा बहुवचनम्।

आत्मनि आत्मन्‌शब्दः सप्तम्येकवचनम्।

अनुपश्यति अनु उपसर्गः दृश् धातुः लट् लकारः प्रथम पुरुषस्यैकवचनम्।

विजुगुप्सते वि + गुप् + सन् लट् लकारः प्रथम पुरूषैएकवचनम् आत्मने पदम्।

शाङ्करभाष्यम्

यस्तु इति । यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यन्तीत्यर्थः। सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषामपि भूतानां स्वंमात्मानमात्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्य-करणसङ्घातस्यात्माहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते। विजुगुप्सां घृणां न करोति। प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम्। सर्वा हि घृणात्मनोऽन्यद् दुष्टं पश्यतो भवत्यात्मान मेव अत्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणा निमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सत इति।

अभेदंर्ष्टि का निरूपण

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥7॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे ऋषिः अभेदंर्ष्टिं निरूप्यतस्याः फलमपि निरूपयति।

अन्वयः

यस्मिन् विजानतः सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः कः मोहः कः शोकः ?

संस्कृत व्याख्या

यस्मिन् = यस्मिन् समये, विजानतः = ज्ञानवतः, सर्वाणि= निखिलानि भूतानि

= प्राणिजातानि, आत्मा एव = परमात्मा एव, अभूत् = भवति स्म, तत्र= तस्मिन् काले, एकत्वम् = एकत्वविशिष्टम्, अनुपश्यतः = अवलोकयतः, कः मोहः = का आसक्तिः, कः शोकः = कः खेदः, अर्थात् यः आत्मज्ञानविशिष्टः पुरूषः तस्य कृते न कदापि शोकः मोहो वा भवति।

शब्दार्थः

यस्मिन् = जिस समय, विजानतः = ज्ञानवान पुरुष के लिये, सर्वाणि = समस्त, भूतानि = प्राणी, आत्मा = आत्मास्वरूप, अभूत् = हो जाते हैं, तत्र.= उस काल में, एकत्वम् = एकत्व को, अनुपश्यतः = अवलोकन करने वाले ज्ञानी के लिये, कः मोहः = क्या मोह, कः शोकः = क्या शोक ?

अनुवादः

जब आत्मज्ञानी पुरुष समस्त जीवों को आत्मास्वरूप समझने लग जाता है, तब उस समय एकत्व का दर्शन करने वाले उस ज्ञानी के लिये क्या तो शोक हो सकता है? और क्या मोह हो सकता है ?

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि आत्मतत्त्व का बोध जब साधक को हो जाता है, तब वह शोक व मोह की स्थिति से परे हो जाता है। क्योंकि शोक या मोह तभी तक रहता है जब तक बुद्धि अज्ञान के आवरण से आच्छादित है। इस अज्ञान के कारण ही मनुष्य संसार के समस्त प्राणियों को भिन्न-2 रूपों में देखता है। वह यह भूल जाता है कि केवल स्थूल शरीर भिन्न भिन्न हैं इन स्थूल शरीरों में रहने वाला वह आत्मा एक ही है। एक आत्मा के अतिरिक्त जब अन्य कुछ है ही नहीं फिर मोह क्यों?

अतः जब तक अज्ञान के कारण द्वैतभाव विद्यमान है तभी तक शोक या मोह की अनुभूति होती है। आत्मज्ञानानन्तर द्वैतभाव की निवृत्ति हो जाने से समस्त जीवों में एक आत्मा का दर्शन होने लगता है। ऐसी स्थिति में आत्मज्ञ पुरूष के लिये अपने से अतिरिक्त अन्य कुछ **है ही नहीं जिसको** प्राप्त करने के लिये वह प्रयास करे तथा प्राप्त न होने की स्थिति में शोक किया जाये।

इसलिये शोकादि की स्थिति जीवन में तभी तक रहती है जब तक सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति है किन्तु सत्संग आदि के माध्यम से जब **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या''** का अनुभव होता है तब धीरे-2 सांसारिक कामनाओं के प्रति मन में विरक्ति का भाव जागृत होने लगता है। तथा मन से शोक मोह आदि विकारों का अवसान हो जाता है। और मन सर्वत्र उस विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का दर्शन करने लगता है। तथा शोकादि की सर्वदा के लिये निवृत्ति हो जाती है।

व्याकरण

यस्मिन् यत् शब्दः सप्तम्येकवचनम्।

सर्वाणि सर्व शब्दःप्रथमा बहुवचनम्, नपुंसकलिङ्गः।

आत्मा आत्मन् शब्दः प्रथमैकवचनम्।

अभूत् भू धातुः लुङ् लकारः प्रथम पुरूषस्यैकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

इममेवार्थमन्योपि मन्त्र आह-यस्मिन् सर्वाणि भूतानि। यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मै वा भूद् आत्मैव संवृत्तः परमार्थ वस्तु विजानतः तत्र तस्मिन् काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः? शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अजानतो भवति। न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः।

को मोहः कः शोकः इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भव-प्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति।

आत्मा का स्वरूप

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥8॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे **अकाय-अव्रण**-प्रभृतिभिः विविधविशेषणैः आत्मनः स्वरूपं वर्णितमस्ति

यथा-

अन्वयः

सः शुक्रम्अकायम् अव्रणम्, अस्नाविरं, शुद्धम्, अपापविद्धम्, पर्यगात्। कविः मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः, शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्।

संस्कृत व्याख्या

यः = आत्मा, शुक्रम् = शुद्धम्, अकायम् = देहरहितम्, अव्रणम् = **अक्षतम्** अस्नाविरम् = स्नायुरहितम्, शुद्धम् = कालुष्यरहितम्, अपापविद्धम् = पापरहितम्, पर्यगात् = परितो व्याप्तो भूतः। कविः = क्रान्तदर्शी, मनीषी = सर्वज्ञः, परिभूः = सर्वोत्कृष्टः, स्वयम्भूः = स्वयमेवोत्पद्यमानः, शाश्वतीभ्यः =नित्याभ्यः, समाभ्यः = सम्वत्सराख्येभ्यः, याथातथ्यतः = यथार्थतः, अर्थात् = कर्तव्यपदार्थान्, व्यदधात् = विहितवान्।

शब्दार्थः

सः = वह आत्मा, शुक्रम् = दीप्तिमान्, अकायम् = शरीर रहित, अव्रणम् = अक्षत अस्नाविरम् = स्नायु रहित, शुद्धम् = निर्मल, अपापविद्धम् = पापरहित, पर्यगात् = सब ओर गया हुआ कविः = सर्वद्दष्टा, मनीषी = सर्वज्ञ, परिभूः = सर्वोपरिविद्यमान, स्वयम्भूः = स्वयं प्रकट होने वाला, शाश्वतीभ्यः = नित्य सिद्ध, समाभ्यः = संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिये, अर्थान् = कर्तव्य पदार्थों को, व्यदधात् = विभाजित किया।

अनुवादः

वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, शुद्ध, शरीर रहित अक्षत, स्नायु रहित निर्मल (कालुष्य रहित) पाप रहित, सर्वद्दष्टा, सर्वज्ञ सर्वोत्कृष्ट तथा स्वयम्भूः है। उस आत्मा ने ही नित्य सिद्ध नामके प्रजापतियों के लिये कर्तव्य पदार्थों का विभाग किया है।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में आत्मा के स्वरूप का विविध विशेषणों द्वारा वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह आत्मा ज्योतिस्वरूप है अर्थात् दीप्तिमान है। तथा वह आत्मा शरीर रहित है, इसीलिये वह अक्षत है एवं स्नायु रहित है। क्योंकि क्षय तो स्थूल पदार्थों का होता है।

पृथ्वी, जल तेज, वायु, आकाश, इन पञ्च महाभूतों से निर्मित हमारा यह पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर ही हर क्षण क्षय को प्राप्त होने के कारण जन्म लेने के पश्चात पहले कुमारावस्था, किशोरावस्था युवावस्था तथा वृद्धावस्था को प्राप्त होता हुआ अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। आत्मा इन सब अवस्थाओं से परे है। वह न जनम लेता है न युवा होकर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। इसलिये आनन्द- कन्द प्रभु श्री कृष्ण चन्द्र ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुये श्रीमद्भगवद् गीता में कहा कि हे अर्जुन !

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणःन हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अतः आत्मतत्त्व शरीर रहित होने के कारण ही क्षय रहित है, तथा स्नायुरहित है, क्योंकि स्नायु शरीर का धर्म है आत्मा का नहीं। आत्मा सभी प्रकार के शरीरों से रहित है।

दर्शन शास्त्र में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के शरीरों का वर्णन किया गया है- स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) तथा कारण शरीर। रक्त मांसादि से युक्त पाञ्चभौतिक शरीर स्थूल शरीर कहलाता है, जिसका अस्तित्त्व तभी तक रहता है जब तक कि इस शरीर में आत्मा विद्यमान है। आत्मा का निर्गमन होने के पश्चात यह स्थूल शरीर विनष्ट हो जाता है। सूक्ष्म शरीर वह कहलाता है जो प्राण, अपान, ब्यान, उदान, समान, इन पञ्च प्राणों, तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, एवं मन, वुद्धि से सम्न्वित है यह सत्तरह अवयवों वाला शरीर ही सूक्ष्म शरीर कहलाता है। आत्मा पूर्व शरीर को त्याग कर नये शरीर में इस सूक्ष्म शरीर के साथ ही प्रवेश करता है। इस शरीर से भी सूक्ष्मतर जो शरीर है, वह कारण शरीर कहलाता है। जो कि समस्त प्रपञ्च का **कारण है।** वह आत्मा इन तीनों प्रकार के शरीरों से रहित है।

प्रस्तुत मन्त्र में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय उसे व्रण (घाव) रहित तथा स्नायुरहित बताना इस बात का द्योतक है कि वह आत्मा स्थूल शरीर से रहित है क्योंकि व्रण (घाव) युक्त होना या स्नायु युक्त होना स्थूल शरीर का धर्म है आत्मा का नहीं। अकायम् विशेषण के माध्यम से आत्मा को सूक्ष्म शरीर रहित बताया गया है। समस्त प्रपञ्च के कारण स्वरूप अज्ञान को ही कारण शरीर कहा जाता है, तथा कारण शरीर रूप जो अज्ञान है वह कालुष्य युक्त है। अतः अविद्या रूप मल से रहित होने के कारण, एवं सत्व रज तम इन तीनों गुणों के प्रभाव से रहित होने के कारण वह आत्मा सदैव निर्मल है। इसलिये **शुद्धम्**'' इस विशेषण के माध्यम से आत्मा को कारण शरीर रहित बताया गया है।

आत्मा की सत्ता एकदेशीय नहीं अपितु सार्वत्रिक है। तथा वह आत्मा प्रकाश स्वरूप होने के कारण उसमें शुक्लत्व या शुद्धत्व की प्रतीति होने के कारण उसे शुक्रम् कहा गया है। आत्मा को पाप पुण्य से रहित होने के कारण **अपाप विद्धम्** कहा गया है। भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों का द्दष्टा होने के कारण **कविः** तथा मन का स्वामी होने के कारण **मनीषी**, व सकल संसार में सर्वत्र परिव्याप्त होने के कारण **परिभूः**, एवं स्वयं भवतीति **स्वयम्भूः**, अर्थात् स्वयं होने के कारण स्वयम्भूः कहलाता है।

उसी ने नित्य सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथा योग्य रीति से कर्तव्य पदार्थों का विभाजन किया है। इसलिये इस सम्पूर्ण संसार का सृजन करने वाले प्रजापति ब्रह्मा जी भी अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है। वे भी पर ब्रह्म परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्म को सम्पन्न करते है।

व्याकरण

पर्यगात् — परि उपसर्गः गा धातुः लुङ्लकारः प्रथम पुरूषस्यैकवचनम्।

अस्नाविरम् — न स्नाविरम् इति अस्नाविरम् नञ् तत्पुरुषः।

शुद्धम् — अविद्यामल विहीनम्, प्रथमैकवचनम्।

अपापविद्धम् — धर्माधार्मादि पापवर्जितम् न पापैः विद्धम् इति अपापविद्धम्, नञ् तत्पुरूषः।

मनीषी — मनस् + ईषा = मनीषा। मनीषा +इनि = मनीषिन् शब्दः प्रथमैक वचनम्।

परिभूः — परि उपसर्गः, भू धातुः, क्विप् प्रतययः।

स्वयम्भूः — स्वयम्भवतीति स्वयम्भूः। स्वयम् उपपदक सत्तार्थक भू धातुः, क्विप् प्रत्यपः।

व्यदधात् — धारणपोषणार्थक डुधाञ् धातुः वि उपसर्गः, लङ् लकारः प्रथमपुरुषैक वचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरूक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किं लक्षण इत्याहायं मन्त्रः सपर्यगात्। स यथोक्त आत्मा पर्यगात् परिसम्न्तादगाद् गतवानाकाश वद्व्यापी इत्यर्थः। शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्ग शरीर वर्जित इत्यर्थः। अव्रणम् अक्षतम्। अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमितयाभ्यां स्थूल शरीर प्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारण शरीर प्रतिषेधः। अपापविद्धं धर्माधर्मादि पाप वर्जितम्।

शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि। स पर्यगादित्युपक्रम्य कविमनीषीत्यादिना पुल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात्। कविः क्रान्तदर्शी सर्वद्दक् । ''नान्योऽतो.स्ति द्दष्टा'' (वृ.आ.उ. 3/8/11) इत्यादि श्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति। येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति सः सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः।

स नित्य मुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथा तथा भावो याथा तथ्यं तस्माद्यथा भूतकर्म फल साधनतोऽर्थान् कर्तव्य पदार्थान् व्यदधाद्विहितवान् यथानुरूप

व्यभजदित्यर्थः शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः सम्वत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः।

विद्या और अविद्या की उपासना का फल

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥9॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे विद्योपासनायाःअविद्योपासनायाश्च फलं वर्णितमस्ति, यथा-

अन्वयः

ये अविद्याम् उपासते, ते अन्धं तमः प्रविशन्ति,ये विद्यायाम् रताः (ते) ततः उ भूय इव तमः (प्रविशन्ति)।

संस्कृत व्याख्या

ये = ये जनाः, अविद्याम्= कर्म, उपासते = समुपासते, ते = ते जनाः, अन्धं तमः = गहनान्धकारं, प्रविशन्ति = प्रवेशं कुर्वन्ति, ये = ये जनाः, विद्यायाम् = ज्ञाने, रताः = असक्ताः (ते = ते जनाः) ततः उ = तस्मादपि भूयः = अतिशयेन, इव = यथा (प्रविशन्ति = प्रवेशं कुर्वन्ति)।

शब्दार्थः

ये = जो उपासक, अविद्याम् = अविद्या, की उपासते = उपासना करते हैं, ते = वे, अन्धं तमः = गहन अन्धकार में, प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं, ये = जो उपासक, विद्यायाम् = विद्या में, रताः = अनुरक्त रहते हैं (ते = वे) ततः उ = उससे भी, भूयः इव = अधिक, तमः = अन्धकार में (प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं)।

अनुवादः

जो उपासक अविद्या की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही अनुरक्त हैं वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

—

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में अविद्या तथा विद्या की उपासना का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जो साधक सांसारिक विषय भोगों को भोगने की कामना से अविद्या रूपी सकाम उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, क्योंकि सकाम उपासना के प्रभाव से ऐहिलौकिक तथा स्वर्ग प्राप्ति रूप पार लौकिक कामनाओं की सिद्धि तो हो जाती है, किन्तु कर्म जन्य फल के प्रति निरन्तर आसक्ति रहने के कारण उन फलों को भोगने के लिये पुनः पुनः इस मृत्यु लोक में आना पडता है। इसलिये "**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्** " की प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है।, जिससे जीव को कभी मुक्ति नहीं मिलती। अतः जन्म मरण के चक्र से इस जीव की मुक्ति का न होना ही घोर अन्धकार में प्रवेश करना है।

तथा जो साधक कर्म का परित्याग कर जीव, ब्रह्म, माया के सैद्धान्तिक ज्ञान में अनुरक्त रहता है वह व्यक्ति उस अन्धकार से भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करता है। क्योंकि शास्त्रों में जहाँ "**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः**" कहकर मुक्ति के साधन भूत ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है वहाँ सैद्धान्तिक ज्ञान के विवेचन मात्र से मुक्ति सम्भव नहीं, अपितु उस ज्ञान को हृदयङ्गम कर उसकी अनुभूति होनी चाहिये। उस आध्यात्मिक ज्ञान की अपने जीवन में क्रियान्विति होनी चाहिये। तभी वह ज्ञान फल का जनक होता है अन्यथा नहीं।

उदाहरणार्थ "**सत्यं वद**" "**धर्मं चर**" इस शास्त्रीय ज्ञान को पढ़ लेने मात्र से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, पुण्य जनकता तो तभी उत्पन्न होगी जब कि हम सत्य को जीवन में अंगीकार कर अपने जीवन में क्रियान्वित करें। इसी प्रकार धर्म का आचरण करना चाहिये, इतना पढ़ लेने या उपदेश दे देने मात्र से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, पुण्य अवाप्ति हेतु धर्म का आचरण आवश्यक है, धर्माचरण की जीवन में क्रियान्विति हुये बिना फल की प्राप्ति सम्भव नहीं। जिस ज्ञान को जीवन में क्रियान्वित न किया जाये वह ज्ञान भारस्वरूप होता है। "**ज्ञानं भारः क्रियां बिना।**" साथ ही वर्णाश्रमानुसार निर्धारित वेद विहित कर्म का परित्याग कर देने से व्यक्ति के अन्तकरण की शुद्धि भी नहीं होती, जिसके परिणाम स्वरूप अन्तःकरण में ज्ञान का उद्गम नहीं होता। इसलिये

केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान संबन्धी मिथ्याभिमान के साथ जीवन जीने वाला **व्यक्ति** और अधिक अधोगति को प्राप्त होता है।

अतः मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह वर्णाश्रमानुसार वेद विहित कर्मों को निष्काम भावना से सम्पादित करते हुये उस नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप पर ब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन मनन निदिध्यासन में अवस्थित हो अपना जीवन व्यतीत करें।

व्याकरण

प्रविशन्ति प्रोपसर्गः, विश् धातुः, लट् लकारः प्रथमपुरुषस्य बहुवचनम्।

अविद्याम् विद्याया अन्या अविद्या ताम्।

उपासते उप उपसर्गः, आस् धातुः लट् लकारः प्रथम पुरूषस्यबहुवचनम्।

विद्यायाम् ज्ञानार्थक विद् धातुः क्यप् प्रत्यपः टाप् प्रतययश्च विहिते सति निष्पन्नस्य विद्या शब्दस्य सप्तम्येकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणा परित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता- प्रथमो वेदार्थः "ईशा वास्पमिदं सर्वं" "मा गृधः कस्यस्विद्धनम् इति।" अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठा सम्भवे "कुर्वन्नेह वेह कर्माणि जिजीविशेत्" इति कर्म निष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः। अनयोश्च निष्ठयो विंभागो मन्त्र प्रदर्शितयो वृंहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः-

"सोऽकामयत जाया मे स्यादि" त्यादिना। अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति। **"मन एवास्यात्मा वाग्जाये**"त्यादि वचनात्। अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चित मवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानं। जायाद्येषणात्रय संन्यासेन चात्मविदां कर्मनिष्ठाप्राति कूल्येनात्मस्वरूप निष्ठैव दर्शिता किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इत्यादिना।

ये तु ज्ञान निष्ठाः सन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिना अविद्वन्निन्दा द्वारेणात्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्यैर्मन्त्रैरूप दिष्टम्। ते ह्यत्राधि कृता न कामिन इति तथा श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषि सङ्घजुष्टमित्यादि विभज्योक्तम्। ये तु कर्मिणः कर्म निष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव

जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते- अन्धं तम इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषा मित्युच्यते-

अकामिनः साध्य साधन भेदोपमर्देन यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा- भूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति यदात्मैकत्व विज्ञानं तन्न केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषया विद्वदादि निन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवता विषयं ज्ञानं तत्कर्म सम्बन्धित्वे नोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्। विद्यया देव लोक इति पृथक्फल श्रवणात् । तयोर्ज्ञान कर्मणोरिहैकैकानुष्ठान निन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैवैकैकस्य प्रथक् फल श्रवणात् ।"विद्याया तदारोहन्ति।" "विद्यया देवलोकः।" न तत्र दक्षिणा यन्ति।" कर्मणा पितृ लोक इति। न हि शास्त्र विहितं किञ्चिद कर्तव्यतामियात्।

तत्रान्धतमोऽद र्शनात्मकं तमः प्रविशान्ति। के ? येऽविद्यां विद्याया अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। तामविद्यामग्निहोत्रादि लक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तित्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात् तमसो भूय इव बहुतर्मेव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवता ज्ञान एव रता अभिरताः। तत्रावान्तर फल भेदं विद्या कर्म्रणोः समुच्चय कारणमाह। अन्यथा फलवद फल वतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः।

विद्या और अविद्या के फल भेद का वर्णन

अन्य देवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥10॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे विद्योपासनायाः अवद्योपासनायाश्च फल भेदं वर्ण्यते।

अन्वयः

विद्यया अन्यत् एव आहुः अविद्यया अन्यत् आहुः इति धीराणाम् शुश्रुम ये नः तत् विचचक्षिरे।

संस्कृत व्याख्या

विद्यया = ज्ञानेन, अन्यत एव = अन्यफलम एव भवति इति, आहुः = कथयन्ति, अविद्यया = कर्मणा, अन्यत् = भिन्नं फलं भवतीति, आहुः = कथयन्ति, इति = एवं धीराणम् = धीर पुरूषाणाम, शुश्रुम = श्रवणं कुर्मः, ये = धीराः नः = अस्माकं कृते, तत् = तत्त्वं, विचचक्षिरे = व्याख्यानं चक्रुः।

शब्दार्थः

विद्यया = विद्या से, अन्यत् एव = भिन्न ही (फल होता है ऐसा विद्वज्जन) आहुः = कहते हैं, (तथा) अविद्यया = अविद्यया से अन्यत् = प्रथक (ही फल होता है ऐसा विद्धज्जन) आहुः = कहते हैं। इति = इस प्रकार (हमने) धीराणाम् = सुधी जनों से, शुश्रुम = सुना है, ये = जिन्होंने नः = हमारे लिये, तत् = उसकी (कर्म और ज्ञान की) विचचक्षिरे = व्याख्या की।

अनुवादः

विद्या (ज्ञान) से भिन्न ही फल होता है, तथा अविद्या (कर्म) से भिन्न फल होता है। ऐसा हमने सुधी जनों से सुना है जिन्होंने हमारे लिये उस तत्त्व की व्याख्या की है।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में विद्या तथा अविद्या दोनों का भिन्न-2 फल बताते हुये कहा गया है कि विद्या से देवलोक प्राप्ति रूप फल तथा अविद्या से पितृ लोक प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति होती है। अर्थात् इस संसार में यदि मनुष्य विद्या (ज्ञान) रूप उपासना का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करता है तब तो वह इस पाञ्व भौतिक देह का त्याग करने के पश्चात देव लोक को प्राप्त होता है। यदि अविद्या (कर्म) रूप उपासना का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करता है तो मृत्यु के अनन्तर पितृ लोक को प्राप्त होता है। यह व्याख्यान हमने किसी साधारण मनुष्य से नहीं, अपितु तत्त्व वेत्ता त्रिकालदर्शी उन सन्त मनीषियों से सुना है जिन्होंने हमारे लिये विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) की उपासना का प्रथक -2 फल बताया है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की उपासनायें भिन्न-2 फलों से समन्वित हैं। तथा इनका फल मोक्ष रूप न होकर मात्र बन्धन रूप होने के कारण अधिक प्रशंसनीय नहीं है।

व्याकरण

आहुः ब्रु धातुः, लट् लकारः, प्रथम पुरूषस्य बहुवचनम्।

विद्यया विद्या शब्दः तृतीयैकवचनम्।

अविद्यया न विद्या इति अविद्या तया। नञ् तत्पुरुषः।

शुश्रम् श्रु धातुः, लिट् लकारः, उत्तम पुरूषस्य बहुवचनम्।

धीराणाम् धीर शब्दः, षष्ठी बहुवचनम्।

विचचक्षिरे वि उपसर्गः, चक्ष धातुः, लिट् लकारः प्रथम पुरुषस्य बहुवचनम् आत्मनेपदम्।

शाङ्करभाष्यम्

अन्यदेवेत्यादि। अन्यत् पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति। विद्यया देव लोकः " (वृ. आ. उ. 1-5-16)" विद्यया तदारोहन्ति "(श. ब्रा. 1.-5-4-16) इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते" कर्मणा पितृ लोकः" (वृ. आ. उ. 1-5-16) इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्याः नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥10॥

विद्या और अविद्या के समुच्चय का फल

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥11॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे समुच्चयरूपेण कृतायाः विद्योपासनायाः अविद्योपासनायाश्च फलं निरूप्यते।

अन्वयः

यः विद्यां च अविद्याञ्च तत् उभयं सह वेद (सः) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम अश्नुते।

संस्कृत व्याख्या

यः = जनः, विद्याम् = ज्ञानम्, अविद्याम् च = कर्म च, तत् उभयम् = तद्द्वयम् सह = युगपद्, वेद = जानाति, तदा (सः = जनः) अविद्यया = कर्मणा, मृत्युम् = मरणम्, तीर्त्वा = पारं गत्वा, विद्यया = ज्ञानेन, अमृतम् =अविनाश रूपं अश्नुते = प्राप्नोति।

शब्दार्थः

यः = जो, विद्याम् = विद्या, च = और अविद्याम च = अविद्या, तत् उभयम् = इन दोनों को, सह = एक साथ वेद = जानता है, (सः = वह) अविद्यया = **अविद्या** से मृत्युम् = मृत्यु को, तीर्त्वा = पार करके, विद्यया = विद्या से अमृतम् = **अमरत्व** को, अश्नुते =प्राप्त करता है।

अनुवादः

जो प्राणी विद्या तथा अविद्या इन दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त करता है।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में अविद्या (निष्काम कर्म) तथा विद्या (ब्रह्मविषयक ज्ञान) दोनों को जीवन में एक साथ क्रियान्वित करने का फल वर्णन करते हुये कहा गया है कि जो प्राणी आजीवन शास्त्र विहित निष्काम कर्म में रत रहता है, वह जन्म मृत्यु से मुक्त हो जाता है, क्योंकि जन्म व मृत्यु का क्रम तभी तक है जब तक प्राणी सकाम उपासना करते हुये सांसारिक विषयासक्ति को अपने हृदय में स्थान देकर संसार के विषय भोगों को भोगने की कामना से जीवन जीता है।

जिस दिन प्राणी को इस पाञ्च भौतिक शरीर की तथा इस शरीर के द्वारा भोगे जाने वाले विषयों की नश्वरता का ज्ञान पूर्णरूपेण हो जाता है, तथा इसके साथ ही इस चञ्चल चित्त की चित्तवृत्ति चलायमान संसार से विमुख होकर उस पर ब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन मनन निदिध्यासन में पूर्णरूप से अवस्थित हो जाती है तब यह जीव **''पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्''** की प्रक्रिया से मुक्त होकर भगवान के उस परं धाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है, जहाँ पहँचने के पश्चात

पुनरागमन नहीं होता। भगवान ने भी श्री मद्भगवद् गीता में कहा है। कि **''यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम''**॥

अतः फलेच्छा से रहित होकर सांसारिक, उत्तर दायित्वों का निर्वहन करते हुये शास्त्रविहित कर्मों को कर इस मृत्यु मय संसार को पार करके **''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''** के अनुसार ज्ञानाभ्यास करते हुये उस अमृतमय पर ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिये।

व्याकरण

उभयम् सर्वादिगण पठित उभय शब्दः, द्वितीयैकवचनम्।

तीर्त्वा ''तॄ'' प्लवन तरणयो र्धातुः, क्त्वा प्रत्ययः।

अमृतम् अमृत शब्दः द्वितीयैकवचनम्।

अश्नुते ''अशू'' व्याप्तौ संघाते च धातुः, लट् लकारः प्रथम पुरूषस्यैकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

यत् एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवता ज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरूषेणानुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चय कारिण एवैक पुरूषार्थ सम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते-

अविद्ययाकर्मणाऽग्नि होत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्द वाच्यमुभयं तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्॥

सम्भूति और असम्भूति की उपासना का वर्णन

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥12॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे सम्भूत्युपासनायाः असम्भूत्युपासनायाश्च वर्णनं क्रियते।

अन्वयः

ये असम्भूतिम् उपासते ते अन्धम् तमः प्रविशन्ति, ये उ सम्भूत्याम् रताः (ते) ततः भूयः इव तमः (प्रविशन्ति)

संस्कृत व्याख्या

ये = जनाः,असम्भूतिम = अव्याकृत प्रकृतिम्, उपासते = समुपासते, ते = जनाः, अन्धंतमः = गहनान्धकारम्, प्रविशन्ति = प्रवेशं कुर्वन्ति। ये उ = ये च जनाः, सम्भूत्याम् = कार्य ब्रह्मणि, रताः = आसक्ताः (ते = ते जनाः) ततः = तस्मादपि, भूयः = अतिशयेन, इव = यथा तमः = गहनान्धकारे, (प्रविशन्ति = प्रवेशं कुर्वन्ति।)

शब्दार्थः

ये = जो मनुष्य, असम्भूतिम् = अव्याकृत प्रकृति की, उपासते = उपासना करते हैं ते = वे, अन्धं तमः = गहन अन्धकार में, प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं, ये उ = और जो मनुष्य सम्भूत्याम् = कार्य ब्रह्म में, रताः = संलग्न रहते हैं (ते = वे मनुष्य) ततः = उससे, भूयः इव = अत्यधिक, तम := घोर अन्धकार में (प्रविशन्ति = **प्रवेश** करते हैं।

अनुवादः

जो प्राणी असम्भूति की उपासना में संलग्न रहते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, तथा जो सम्भूति की उपासना में रत रहते हैं वे मानों उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते है।

हिन्दी व्याख्या

उक्त मन्त्र में असम्भूति तथा सम्भूति दोनों की प्रथक - 2 रूप में उपासना की निन्दा करते हुये कहा गया है कि जो प्राणी असम्भूति की उपसना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो सम्भूति की उपासना करते हैं वे मानों उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते है।

सम्भूति का तात्पर्य है कि जो उत्पद्यमान हो, अर्थात् जिस कार्य की उत्पत्ति होती हो। सम्भूति से जो भिन्न हो वह असम्भूति है। उस असम्भूति को ही वेदान्त दर्शन में प्रकृति, कारण, अविद्या, अव्याकृत, आदि नामों से अभिहित किया गया है। अतः

समस्त कार्यो की वीज रुपा प्रकृति की उपासना करने से जैसे प्राणी अज्ञानान्धकार में प्रवेश करता है वैसे ही मात्र सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना भी गहनान्धकार की ओर ले जाने वाली है।

हमारे धर्मग्रन्थों की ऐसी मान्यता है कि जो मनुष्य अव्याकृत प्रकृति (असम्भूति) की उपासना करते हैं उनहें "प्रकृति लय" रूप फल प्राप्त होता है। प्रकृतिलय" रूप फलावाप्ति हो जाने के पश्चात भी "**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः**" के अनुसार ब्रह्म विषयक ज्ञान न होने के कारण संसार के आवागमन से मुक्ति नहीं होती। तथा जो प्राणी केवल कार्यब्रह्म (सम्भूति) की उपासना करते रहते हैं इस उपासना के फलस्वरूप उन्हें अपार ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इस ऐश्वर्य के प्रति चित्त में आसक्ति पैदा हो जाने के कारण पुनः संसार से मुक्त नहीं हो पाता। अतः ऐसा साधक और भी अधिक अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करता है।

जिन विद्वानों के अनुसार असम्भूति का अर्थ ज्ञान तथा सम्भूति का अर्थ कर्म है, उनके अनुसार कर्म से विमुख होकर जो प्राणी केवल आत्मज्ञान में रत रहता है वह भी अज्ञानान्धकार को प्राप्त होता है, तथा जो आत्मज्ञान विहीन जन केवल कर्म में रत रहता है, वह और भी घोर अन्धकार को प्राप्त होकर कर्म जन्य बन्धन को बार-2 प्राप्त होता रहता है।

व्याकरण

प्रविशन्ति	प्रोपसर्गः विश् धातुः, लट् लकारः प्रथम पुरूषस्य बहुवचनम्।
असम्भूतिम्	सम्भूत्याः अन्या असम्भूतिः, ताम् असम्भूतिम्, द्वितीयैक्- वचनम्।
सम्भूत्याम्	सम् उपसर्गः, भू धातुः क्तिन् प्रतययः सप्तम्येकवचनम्।
रताः	रत शब्दः प्रथमा बहुवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते। अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या तामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीज **भूतामदर्शनात्मिकामुपासते** ये ते तदनुरूपमेवान्धं

तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपिभूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्य ब्रह्मणि हिरण्य गर्भाख्ये रताः।

सम्भूति और असम्भूति की उपासना का फल

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥13॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे सम्भूत्युपासनायाः असम्भूत्युपासनायाश्च फल भेदं वर्ण्यते।

अन्वयः

सम्भवात् अन्यत् एव आहुः असम्भवात् अन्यत् आहुः इति धीराणां शुश्रुम्, ये नः तत् विचक्षिरे॥

संस्कृत व्याख्या

सम्भवात् = कार्यब्रह्म उपासनायाः, अन्यत् एव = अन्य फलं एव भवतीति, आहुः = कथयन्ति, असम्भवात् = अव्याकृत प्रकृति उपासनायाः, अन्यत् = अन्य फलं भवतीति, आहुः = निगदन्ति, इति = इत्थम्, धीराणाम् = धीमताम्, शुश्रुम् = श्रवणं कुर्मः, ये = धीरा, नः = अस्माकं कृते, तत् = तत्त्वम्, विचचक्षिरे = व्याख्यानं चक्रुः।

शब्दार्थः

सम्भवात् = सम्भूति (कार्यब्रह्म) की उपासना से, अन्यत् = अन्य, एव = ही (फल होता है ऐसा) आहुः = कहते हैं, असम्भवात् = असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति) की उपासना से, अन्यत् = भिन्न (फल होता है ऐसा) आहुः = कहते हैं। इति = इस प्रकार धीराणाम् = धीर पुरुषों से, शुश्रुम = सुना है, ये = जिन्होंने, नः = हमारे लिये, तत् = उस तत्त्व की विचचक्षिरे = व्याख्या की थी।

अनुवादः

कार्य ब्रह्म की उपासना से भिन्न ही फल होता है, तथा अव्याकृत प्रकृति की

उपासना से भिन्न फल प्रतिपादित किया गया है, ऐसा हमने बुद्धिमानों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिये उस तत्त्व की व्याख्या की थी।

हिन्दी व्याख्या

पूर्व के मन्त्रों में सम्भूति तथा असम्भूति की प्रथक -2 रूप में की गयी उपासना की निन्दा की गयी। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि सम्भव (सम्भूति) अर्थात् कार्य ब्रह्म की उपासना से ऐश्वर्य रूप भिन्न फल की प्राप्ति होती है। तथा असम्भव (असम्भूति) अर्थात् अव्याकृत प्रकृति की उपासना प्रकृतिलयात्मक भिन्न फल को प्रदान करने वाली है। इस विषय में हमारे त्रिकालदर्शी ऋषि महर्षियों के वचन ही प्रमाण है। जिन्होंने हमारे लिये उक्त दोनों प्रकार की उपासनाओं के स्वरूप तथा फलभेद का वर्णन किया है।

जिन विद्वानों के अनुसार सम्भूति का अर्थ पर ब्रह्म परमेश्वर, तथा असम्भूति का अर्थ देव, पितर, आदि हैं, उनके अनुसार मन्त्र का तात्पर्य है कि ब्रह्म की उपासना करने से "**ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति**" श्रुति के अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल प्राप्त होता है, तथा देव पितर आदि की उपासना करने वाले उपासक को विविध प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। अतः उपर्युक्त दोनों प्रकार की उपासनायें भिन्न-2 फलों को प्रदान करने वाली है।

व्याकरण

आहुः	ब्रु धातुः लट् लकारः प्रथम पुरुषस्य बहुवचनम्।
शुश्रुम्	श्रुः धातुः लिट् लकारः उतम पुरुषस्य बहुवचनम्।
धीराणाम्	धीर शब्दः षष्ठीबहुवचनम्।
ये	यत् शब्दः प्रथमा बहुवचनम्।
विचचक्षिरे	विउपसर्गः, चक्ष धातुः, लिट् लकारः प्रथम पुरुषस्य बहुवचनम् आत्मनेपदम्।

शाङ्करभाष्यम्

अधुनोभयोरूपासनयोः समुच्य कारणमवयव फल भेदमाह - अन्यदेवेति।

अन्यदेव प्रथगेवाहु फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्य लक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुः असम्भवादसम्भूतेरव्याकृताद अव्याकृतोपासनाद्। यदुक्तमन्धतमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरूच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासन फलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः।

सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय का फल

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥14॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोः समुच्चय फलं वर्ण्यते।

अन्वयः

यः सम्भूतिं च विनाशं च तत् उभय सह वेद (सः) विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते।

संस्कृत व्याख्या

यः = यः जनः सम्भूतिं च = असम्भूतिं च , विनाशं च = सम्भूतिं च, तद् उभयम् = तद् द्वयम्, सह = युगपद, वेद = विजानाति, (सः = सः जनः), विनाशेन = सम्भूत्या, मृतयुम् = मरणम् ,तीर्त्वा = पारं गत्वा, सम्भूत्या = असम्भूत्युपासनया, अमृतम् = प्रकृतिलय रूपम् अमृतम्, अश्नुते = प्राप्नोतिं।

शब्दार्थः

यः = जो मनुष्य, सम्भूतिम् = असम्भूति, च = और विनाशम् = सम्भूति, च = और, तत् उभयम् = इन दोनों को, सह = एक साथ, वेद = जानता है, (सः = वह मनुष्य) विनाशेन = सम्भूति की उपासना से, मृत्युम् = मृतयु को, तीर्त्वा = पार करके, सम्भूत्या = असम्भूति की उपासना से, अमृतम् = प्रकृतिलय रूप अमरत्व को अश्नुते = प्राप्त करता है।

अनुवादः

जो मनुष्य असम्भूति तथा सम्भूति इन दोनों को एक साथ जानता है, वह मनुष्य सम्भूति की उपासना से मृत्यु को पार करके असम्भूति की उपासना द्वारा अमरत्व को प्राप्त करता है।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में सम्भूति तथा असम्भूति की उपासना द्वारा समुच्चय रूप में प्राप्त होने वाले फल का वर्णन करते हुये कहा गया है कि सम्भूति तथा असम्भूति इन दोनों को जो प्राणी एक साथ जानता है वह सम्भूति की उपासना के माध्यम से अधर्म कामना आदि दोषों से उत्पन्न हुये अनैश्वर्य रूप मृत्यु को पार कर असम्भूति रूप अव्याकृत प्रकृति की उपासना से प्रकृतिलयात्मक अमृतत्त्व को प्राप्त होता है।

उक्त मन्त्र में प्रयुक्त विनाश शब्द सम्भूति अर्थ का वाचक है। संसार के समस्त कार्य विनाशी है। अतः विनाश शब्द कार्य ब्रह्म का वाचक है जो कि पूर्व के मन्त्रों में सम्भूति शब्द से अभिहित हुआ है। इस मन्त्र में प्रयुक्त सम्भूति शब्द में अधिकांश विद्वानों ने अकार का प्रश्लेष कर सम्भूति शब्द को असम्भूति अर्थ में माना है।

व्याकरण

सम्भूतिम् समुपसर्गः, भू धातुः, क्तिन् प्रत्ययः द्वितीयैकवचनम्।

विनाशेन विनाश शब्दः, तृतीयैकवचनम् विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य सः।

तीर्त्वा तृ प्लवन तरणयोः धातुः, क्त्वा प्रत्ययः।

सम्भूत्या सम्भूति शब्दः, तृतीयैकवचनम्।

अश्नुते अशु धातुः, लट् लकारः प्रथम पुरूषस्यैकवचनम्, आत्मनेपदम्।

शाङ्करभाष्यम्

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्तएवैक पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह-

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदो भयं सह विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य सः तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति। तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्म कामादि दोष जातं च

मृत्युं तीर्त्वा, हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य असम्भूत्या व्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलय लक्षणमश्नुते।

सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्ण लोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलय फल श्रुत्यनुरोधात्।

उपासक की अन्त कालीन मार्ग याचना

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥15॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे कर्म निष्ठ उपासकेन अन्तकाले कृतायाः मार्ग याचनायाः वर्णनं वर्तते।

अन्वयः

हे पूषन्! सत्यस्य मुखं हिरण्मयेन पात्रेण अपिहितम्, सत्य धर्माप दृष्टये तत् त्वम् अपावृणु।

संस्कृत व्याख्या

हे पूषन्! = हे देव! सत्यस्य = सत्यस्वरूप ब्रह्मणः, मुखम् = वदनम् हिरण्मयेन = ज्योतिर्मयेन, पात्रेण = अपि धान भूतेन अपिहितम् = आच्छादितम् सत्य धर्माय = सत्यावलम्वनायमह्यम्, दृष्टये = अवलोकनाय, तत् = आच्छादनम्, **त्वम्** = भवान्, अपावृणु = अपसारय।

शब्दार्थः

हे पूषन! = हे देव! सत्यस्य = आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का, मुखम् = द्वार, हिरण्मयेन = ज्योतिर्मय, पात्रेण = आच्छादन रूप सूर्यमण्डलसे, अपिहितम् = आच्छादित है, सत्यधर्माय = सत्य धर्मी मेरे, दृष्टये = अवलोकन के लिये तत् = उस आच्छादित द्वार को, अपावृणु = खोल दें।

अनुवादः

हे पूषन्! आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से आच्छादित

है। सत्य धर्म वाले मेरे लिये अवलोकनार्थ उस आच्छादित द्वार को आप खोल दें।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक अन्तिम समय में आत्म तत्त्व प्राप्ति की कामना से आदित्य मण्डल में स्थित सत्य स्वरूप पर ब्रह्म परमेश्वर से साक्षात्कार करने की इच्छा प्रकट करते हुये कहता है कि इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का पोषण करने वाले हे भगवान भास्कर! आदित्य मण्डल में स्थित जिस पर ब्रह्म परमेश्वर का मुख (द्वार) ज्योतिर्मय पात्र के आवरण से आच्छादित है, आप उस द्वार को आवरण रहित करदें।' क्योंकि किसी भी वस्तु का दर्शन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वह आवरण रहित न हो जाये।

आवरण रहित ब्रह्म के दर्शन की कामना उपासक इसलिये कर रहा है क्योंकि सत्य है धर्म जिसका ऐसा उपासक उस ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहता है।

व्याकरण

हिरण्मयेन	हिरण्य शब्दः मयट् प्रत्ययः, तृतीयैक वचनम्।
पात्रेण	पात्रशब्दः तृतीयैकवचनम्।
सत्यस्य	सत्यशब्दः षष्ठ्येकवचनम्।
अपावृणु	अप +आ+ वृञ् वरणे धातुः लोट लकारः मध्यम पुरूषैकवचनम्।
सत्यधर्माय	सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्य धर्मा तस्मैमह्यम्, चतुर्थ्येक वचनम्।
दृष्टये	दृश् धातुः क्तिन् प्रत्ययः चतुर्थ्येकवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रं लक्षणं प्रकृति लयान्तम्। एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्त मात्मैवाभूद विजानत इति सर्वात्म भाव एव सर्वेषणा सन्यास ज्ञान निष्ठा फलम्। एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्ति लक्षणस्य वेदार्थस्य विधि प्रतिषेध लक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तम् ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं वृहदारण्यकमुपयुक्तम्।

तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वञ्जिजीविषेद् यो विद्यया सहापर ब्रह्म विषयया तदुक्तं विद्यां चाविद्यां च यस्तद वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इति।

तत्र केन मार्गेणामृतत्त्वमश्नुत इत्युच्यतेतघत त्तत्सत्यमसौ स आदित्यों य एष एतस्मिन्मण्डले पुरूषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरूष एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीनो यथोक्त कर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मानः प्राप्तिद्वारं याचते हिरण्मयेन पात्रेण इति।

हिरण्मयेन पात्रेण इति। हिरण्यमिव ज्योतिर्मयमित्येतत्। तेन पात्रेणेवापि - धानभूतेन सत्यस्यैवादित्य ।

मण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपि हितमाच्छादितम् मुखं द्वारं। तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वप सारय सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम् सोऽहं सत्य धर्मा तस्मै मह्यमथवा यथा भूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे हष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये।

उपासक की अन्त कालिक प्रार्थना

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्यव्यूहरश्मीन् समूह।

तेजोयत्ते रूपं कलयाणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥16॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन्नपि मन्त्रे कर्मनिष्ठ उपासकेन अन्तकाले कृतायाः मार्गयाचनायाः वर्णनं वर्तते।

अन्वयः

पूषन ! एकर्षे ! यम ! सूर्य ! प्रजापत्यः! रश्मीन् व्यूह तेजः समूह यत् ते कल्याणतमं रूपं तत् ते पश्यामि, यः असौ असौ पुरूषः अहं सः अस्मि।

संस्कृत व्याख्या

पूषन् ! = हे जगत् पोषक ! एकर्षे ! = हे एकाकी गमनकर्ता, यम! = हे संयमरूप यम, सूर्य! = हे दिवाकर प्राजावत्य ! = हे प्रजापति नन्दन, रश्मीन् = किरणानि, व्यूह = विगमय, तेजः = ज्योतिः, समूह = उपसंहर, यत् ते = तव, कल्याण तमम् =

श्रेयस्करम्, रूपम् = स्वरूपम्, तत् ते = तब कृपा प्रसादात्, पश्यामि = अवलोकयामि, यः असौ = य एष, असौ = सः, पुरूषः = पुरूषरूपः अहम् = ऋषिः, सः = पूवोक्तरूपः, अस्मि = वर्ते।

शब्दार्थः

पूषन् = हे जगत् पोषक! एकर्षे = हे एकाकी गमन कर्ता, यम = हे नियामक प्राजापंत्यः = हे प्रजापति नन्दन सूर्य = हे भगवान् भास्कर, रश्मीन् = अपनी किरणों को, व्यूह = हटा लो, तेजः = अपने ज्योति पुञ्ज को, समूह=समेट लो, यत् = जो, ते = तुम्हारा, कल्याणतमम् = अत्यन्त मंगलमय, रूपम्= स्वरूप है, तत् = उस (रूप) को, ते = तुम्हारे कृपा प्रसाद से, पश्यामि = मैं देखता हूँ। यः = जो, असौ = **यह** (आदित्यमण्डलस्थ परोक्ष) असौ = यह (प्रत्यक्ष) पुरूषः= पुरुष है, सः = वह, अहम् = मैं, अस्मि = हूँ।

अनुवाद :

हे जगत्पोषक भगवान् भास्कर ! हे एकाकी गमनकर्ता ! हे यम ! हे सूर्य ! **हे** प्रजापति नन्दन ! आप अपनी किरणों को हटा लें, तेज रूपी ज्योति पुञ्ज को समेट लें आपका जो कल्याणमय रूप है उसे मैं आपके कृपा प्रसाद से देखता हूँ। यह जो आदित्य मण्डल में स्थिति पुरूष है वह मैं ही हूँ।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक अपने जीवन के अन्तिम समय में आदित्य मण्डलस्थ परब्रह्म का साक्षात्कार करने की अभिलाषा से पूषा को विविध नामों से सम्बोधित करते हुये याचना करता है कि हे सूर्य! आप समस्त संसार का भरण पोषण करने के कारण पूषा हैं। अनन्ताकाश में एकाकी विचरण करने के कारण आप एकर्षि हैं। सकल संसार की गतिविधि आपके उदित होने के साथ ही प्रारम्भ होती है, तथा अस्त होने पर अवसान को प्राप्त होती है। अतः सकल संसार को अनुशासित करने के कारण आप यम हैं।

पाणिनि व्याकरण में **''दित्यदित्यादित्यपत्युत्तर पदाण्यः''** सूत्र के द्वारा प्रजापति शब्द से अपत्य अर्थ में ''ण्य'' प्रत्यय होता है। इसलिये प्रजापति शब्द से अपत्यार्थक ण्य प्रत्यय होने के कारण प्राजापत्य शब्द की निष्पति हुई, जिसका तात्पर्य है कि हे सूर्य ! आप प्रजापति के पुत्र हैं।

उपासक कहता है कि हे भगवन ! आदित्य मण्डल में स्थित ब्रह्म का मैं साक्षात्कार करना चाहता हूँ किन्तु हे सूर्य! आपकी प्रखर किरणों के कारण मैं दर्शन नहीं कर पाता हूँ। क्योंकि आपकी देदीप्यमान किरणों से आपका स्वरूप आच्छादित हो जाता है।

अतः आप अपनी किरणों को तितर वितर कर अपने प्रचण्ड तेज को अपने अन्दर समाहित कर लें, जिससे कि मुझे आपके परं कल्याणमय स्वरूप के दर्शन हो सकें। भगवान सूर्य उस नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्यस्वरूप उस पर ब्रह्म परमेश्वर के प्रतीक है जिसकी उपासना उपासक ने आजीवन की है, इसलिये अब अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उपासक उस तत्त्व का दर्शन करना चाहता है।

जैसा कि सन्त तुलसीदास ने रामचरित मानस में कहा है कि - ''**ईश्वर अंश जीव अविनाशी**'' अर्थात् यह जीवात्मा उस ईश्वर का ही अंश है, इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुये मन्त्र के अन्त में उपासक कहता है कि ''**योऽसावसौ पुरूषः सोऽहमस्मि**'' अर्थात् आदित्य मण्डलस्थ यह जो पुरूष है वह मैं ही हूँ। क्योंकि ''**ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति**'' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही होता है। यह स्थिति निरन्तर ब्रह्म विषयक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन से सम्भव है।

DESHBANDHU COLLEGE LIBRARY Kalkaji, New Delhi-19

व्याकरण

एकर्षे एक एव ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः।

यम यमयति नियमे स्थापयति य अखिलं जगदिति यमः।

प्राजापत्यः प्रजानां पतिरिति प्रजापतिः प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः।

प्रजापति शब्दः, ''दित्यदित्यादित्यपत्युत्तर पदाण्यः'' इति सूत्रेणात्रापत्यार्थे ण्य प्रत्ययः।

व्यूह वि उपसर्ग पूर्वक 'ऊह'' वितर्के धातुः, लोट लकारः मध्यम पूरुषस्यैकवचनम्।

समूह समुपसर्गपूर्वक ''ऊह'' वितर्के धातुः लोट लकारः मध्यम पुरूषस्यैकवचनम्।

पश्यामि ''दृश'' धातुः लट् लकारः, उत्तमपुरुषस्यैकवचनम्।

93387

शाङ्करभाष्यम्

पूषन्निति । हे पूषन् ! जगतः पोषणात् पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः - हे एकर्षे ! तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः - हे यम ! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्यः- हे सूर्य ! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः- हे प्राजापत्य! व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान्। समूह एकीकुरु उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः। यत्ते तव रूपं कल्याण तमम् अत्यन्त शोभनं तत्ते तवात्मनः प्रसादात पश्यामि। किञ्चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे। योसावादित्य मण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरूषाकारत्वात् पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्धयात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि॥

मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतोस्मरकृतं स्मर कृतो स्मर कृतं स्मर ॥17॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे मरणोन्मुखः उपासकः संकल्पात्मकं स्वीय मनः प्रति प्रार्थयमानः कथयति यत्-

अन्वयः

वायुः अमृतम् अनिलम् (प्रतिपद्यताम्) अथ इदम्, शरीरम् भस्मान्तम् (भूयात्) ॐ कृतो स्मर कृतम् स्मर कृतोस्मर कृतम् स्मर।

संस्कृत व्याख्या

वायुः= प्राण वायुः, अमृतम् = सुधारूपमविनाशिनम्, अनिलम् = वायुरूपसूत्रात्मानम् (प्रतिपद्यताम = प्राप्नुयात्) अथ = अनन्तरम्, इदम् = एतत्, शरीरम् = पाञ्चभौतिक देहम्, भस्मान्तम् = भस्मरूपम्, (भूयात् = भवेत्) ॐ= ओंकाररूपं ब्रह्म ! कृतो = हे संकल्पात्मक मन ! स्मर = स्मरणं कुरू, कृतम् = आचरितम्, स्मर = स्मरणं कुरु, कृतों स्मर कृतम स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम्।

शब्दार्थः

वायुः = (मेरा) प्राण वायुः, अमृतम् = अविनाशी, अनिलम् = वायुरुप सूत्रात्म को (प्रतिपद्यताम् = प्राप्त हो) अथ = अनन्तर, इदम् = यह, शरीरम् = (स्थूल) शरीर, भस्मान्तम् = जलकर भस्मरूप (भूयात् = हो जाये) ॐ = ओंकार रूप ब्रह्म ! कृतो = हे सङ्कल्पात्मक मन ! स्मर = स्मरण कर, कृतम् = किये हुये कर्मों को, स्मर = स्मरण कर, कृतोस्मर कृतम् स्मर — हे मन ! किये हुये कर्मों को स्मरण कर ।

अनुवादः

मेरे प्राण वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हों, इसके पश्चात् यह शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो जाये। ए संकल्पात्मक मन ! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुये कर्मों को स्मरण कर, अव तू स्मरण कर, अपने किये हुये कर्मों का समरण कर।

हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक अपने जीवन के अन्तिम समय में ''सोऽहम्'' की अनुभूति हो जाने के पश्चात आदित्य रूप ब्रह्म से प्रार्थना करते हुये कहता है कि मेरे प्राण वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हों, तथा मेरा यह स्थूल शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो जायें।

उपासक की प्रार्थना है कि पृथवी जल, तेज, वायु, आकाश, इन पञ्च महा भूतों से निर्मित यह स्थूल शरीर भस्म हो जाने के पश्चात् पञ्च महाभूतों में विलीन हो जाये, तथा स्थूल शरीर में रहने वाला सूक्षम शरीर उस अमृत स्वरूप अविनाशी पर ब्रह्म को प्राप्त हो।

शास्त्र का कथन है कि **''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''** अर्थात् सूक्ष्म शरीर का अस्तित्त्व संसार में तब तक रहता है जब तक कि मोक्ष न हो जाये । मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रमुख कारण मन है क्योंकि श्री मद्‌भगवद् गीता में अर्जुन को सम्बोधित करते हुये भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा कि हे अर्जुन !

''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'' अर्थात् इस जीव के बन्धन या मोक्ष का प्रमुख कारण मन है। जब यह मन सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्त हो जाता है तब उन पदार्थों का उपभोग करने के लिये यह जीव बार-2 जन्म लेता है, तथा

मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। अतः **''पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्''** की प्रक्रिया से यह जीव मुक्त नहीं हो पाता। इस प्रकार सत्तरह अवयवों वाला यह सूक्ष्म शरीर निरन्तर चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। किन्तु जब सत्संग आदि के माध्यम से सांसारिक पदार्थों की नश्वरता तथा आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है, तब यह मन धीरे-2 संसार के विषय भोगों से उपरत होकर आत्मचिन्तन से जुड़कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

अतः प्रस्तुत मन्त्र में उपासक सांसारिक पदार्थों तथा स्थूल शरीर की क्षण भंगुरता से अवगत होने के कारण वह कामना करता हैं कि प्राण निर्गमन के अनन्तर मेरा यह स्थूल शरीर अग्नि में जलकर भसमावशेष हो जाये, तथा जिन पञ्चमहाभूतों से इस शरीर की रचना हुई थी, उन पञ्चमहाभूतों में यह पुनः विलीन हो जाये। अन्त में वह अपने मन को सम्बोधित करते हुये कहता है कि हेमन ! अब तू अन्तिम समय में उस पर ब्रह्म परमेश्वर के प्रतीकस्वरूप ॐ पद का उच्चारण कर। क्योंकि जीव का परम पुनीत कर्तव्य है कि वह जीवन के अन्तिम क्षणों में उस ईश्वर का चिन्तन करे। साथ ही अपने सम्पूर्ण जीवन में किये हुये कर्मों का स्मरण करे। क्योंकि अन्तिम समय में किये गये स्मरण का विशेष महत्व होता है इस चिन्तन के आधार पर ही भावी जीवन का निर्धारण होता है। यदि संसार के विषय भोगों का चिन्तन करते हुये प्राण निर्गमन होता है तो पुनः मृत्यु लोक में आना पड़ता है। यदि प्राणों का निर्गमन भगवच्चिन्तन के साथ होता है तो भगवान के उस दिव्य धाम की प्राप्ति होती है जहाँ पहुँचकर इस जीव का पुनरागमन नहीं होता। अतः जीव का कर्तव्य है कि वह अपने अन्तिम समय में सत्कर्मों का स्मरण करते हुये भगवत्समरण करे।

व्याकरण

वायुः = प्राणवायुः, प्रथमैकवचनम्।

अमृतम् = अविनाशिनब्रह्म, द्वितीयैकवचनम्।

ॐ अ + उ + म् = ओऽम्। ओमिति ब्रह्मवाचकं पदम्।

स्मर ''स्मृ'' धातुः लोट् लकारः मध्यमपुरूषैकवचनम्।

कृतम् कृ धातुः ''क्त'' प्रत्ययः।

शाङ्करभाष्यम्

वायुरिति। अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्म परिच्छेद

हित्वाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्य शेषः। लिङ्गंचेदं ज्ञानकर्म संस्कृत मुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्, मार्ग याचन सामर्थ्यात्। अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्। ओमिति यथोपासनमों प्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतों संकल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। एतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने स्मर यन्मया वाल्य प्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। कृतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम्।

मरणोन्मुख उपासक की मार्गयाचना

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराण मेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥18॥

प्रसंगः

प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे मरणोन्मुखः उपासकः भगवन्तमग्निं देवं प्रार्थयन् सन्मार्गं याचते।

अन्वयः

अग्ने (त्वम्) राये अस्मान् सुपथा नय। देव विश्वानि वयुनानि विद्वान् जुहुराणम् एनः अस्मत् युयोधि। ते भूयिष्ठाम् नम उक्तिम् विधेम।

संस्कृत व्याख्या

अग्ने = हे पावक ! (त्वम् = भवान्) राये = धनाय कर्म फल भोगाय वा, अस्मान् = भक्त जनान्, सुपथा = शोभन मार्गेण, नय = प्रापय, देव = हे भगवन्! विश्वानि = निखिलानि, वयुनानि = कर्माणि, विद्वान् = जानन्, जुहुराणम् = कुटिलम्, एनः = पापम्, अस्मत् = भक्त जनेभ्यः, युयोधि = विनाशय, ते = तव, भूयिष्ठाम् = बहुतराम् नम, उक्तिम् = नमस्कार वचनम्, विधेम = कुर्मः।

शब्दार्थः

अग्ने = हे पावक ! (त्वम् = तुम) राये = धन अथवा कर्म फल भोग के लिये

अस्मान् = हमें सुपथा = शोभन भाग से, नय = ले जाओं, देव = हे देव ! विश्वानि = सम्पूर्ण, वयुनानि = कर्मों को विद्वान् = जानने वाले (तुम), जुहुराणम् = कुटिल एनः = पाप को, अस्मत् = हमसे, युयोधि = दूर करो, ते = तुम्हारे लिये, भूयिष्ठाम् = अनेक प्रकार के, नम उक्तिम् = नमस्कार युक्त वचन, विधेम = कहते हैं।

अनुवादः

हे अग्नि देव ! तुम हमे कर्म फल भोग के लिये सन्मार्ग से ले चलो । हे देव! तुम समस्त कर्मों को जानने वाले हो। अतः हमारे कुटिल (पाखण्ड युक्त) पापों को नष्ट कर दो। हम तुम्हारे लिये अनेक बार नमस्कार करते हैं।

संस्कृत व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक आजीवन शास्त्र निर्दिष्ट अग्निहोत्रादि कर्म तथा उपासना करने के पश्चात् अपने जीवन के अन्तिम समय में सन्मार्ग प्राप्ति के लिये अग्नि देव से प्रार्थना करते हुये कहता है कि हे अग्नि देव ! अब मैं पुनः शरीर धारण नहीं करना चाहता हूँ। मैं बार -बार जन्म लेने तथा मरने की प्रक्रिया से मुक्त होना चाहता हूँ।

मैंने आजीवन अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान किया है। अनेक यज्ञों में तत्तद देवताओं का स्मरण कर अग्नि में हवनीय द्रव्य से आहुतियाँ प्रदान की हैं, इसलिये अपने जीवन के अन्तिम समय में मैं आपका स्मरण करता हूँ। आप मेरे समस्त शुभाशुभ कर्मों को जानने वाले हैं, इसलिये मेरी कामना है कि इस पाञ्चभौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात शोभन मार्ग से मेरा गमन हो, जो कि शुभ कर्मों द्वारा ही सम्भव है। अतः शोभन मार्ग से गमन करते समय शुभ कर्मों को ही मेरे सम्मुख करें, तथा प्रवञ्चनात्मक मेरे समस्त अशुभ कर्मों को मुझसे वियुक्त कर दें। जिससे अशुभ कर्म जन्य फलोपभोग से बचा जा सके।

स्थूल शरीर से निर्गत यह आत्मा अपने जीवन में किये गये कर्मों के फलोपभोग के लिये दो मार्गों में से किसी एक मार्ग से यात्रा करता है। प्रथम मार्ग है धूमादि मार्ग अथवा दक्षिणमार्ग या पितृयाण, जिसका सम्बन्ध दक्षिणायन से है। इस मार्ग से आत्मा चन्द्रलोक को जाता है। दूसरा मार्ग है उत्तरमार्ग या देवयान, जिसका सम्बन्ध उत्तरायण से है, इस मार्ग से आत्मा ब्रह्मलोक को जाता है। दक्षिणायन से गमन करने वाला आत्मा कर्मजन्य फलों को भोग कर पुनः इस मृत्यु लोक में आ जाता है, किन्तु उत्तरायण से गमन करने वाला आत्मा ब्रह्म लोक को प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप पुनः इस मृत्युलोक में नहीं आता। तथा कल्पपर्यन्त वहीं निवास करता है, व क्रममुक्ति को प्राप्त होता है। जीव मुक्ति जिसका नाम है वह तो एक मात्र आत्मज्ञान से ही सम्भव है।

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक गमनागमन के चक्र से मुक्त होना चाहता है, तथा ब्रह्मलोक की ओर जाने वाले शोभन (सुन्दर) मार्ग की याचना करता है। अपने जीवन के अन्तिम समय में शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाने के कारण उपासक अग्नि होत्रादि कर्मों को करने में असक्षम है, अतः वह बार-2 नमस्कारादि वचनों के माध्यम से अग्नि देवता की सेवा कर अपने कर्तव्य का निर्वहन करता है।

व्याकरण

अग्ने !	अग्ने इति पदं सम्बोधनैकवचनम्।
नय	''नी'' नये धातुः, लोट लकारः, मध्यम पुरूषैक वचनम्।
राये	'रै'' शब्दः चतुर्थ्येकवचनम्।
अस्मान्	अस्मद् शब्दः द्वितीया बहुवचनम्।
वयुनानि	वयुन् शब्दः द्वितीया बहुवचनम्।
युयोधि	''यु'' धातुः लोट् लकारः मध्यमपुरूषैक वचनम्।
जुहुराणम्	''ह्वृ'' धातुः शानच् प्रत्ययः।
एनः	''इ'' धातुः असुन् प्रत्ययः नुडागमः।
भूयिष्ठाम्	बहु + इष्ठन् यिडागमः भू आदेशः।
विधेम	वि उपसर्ग पूर्वक ''डुधाञ्'' धारण पोषणयोः धातुः, आशिषि लिङ् लकारः, उतम पुरुषस्यबहुवचनम्।

शाङ्करभाष्यम्

पुनरने मन्त्रेण मार्गयाचते अग्ने नयेति । हे अग्ने। नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिण मार्ग निकृत्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागत लक्षणेनातोयाचे त्वां पुनर्गमनागमन वर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय कर्मफल भोगायेत्यर्थः।

अस्मान्यथोक्त धर्मफल विशिश्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्जानन्। किञ्च युयोधि वियोजय विनाशय असमदस्मत्तो जुहुराणम् कुटिलं वञ्चनात्मकेमनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्तः इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम्। भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः ॥8 ॥

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत उपसंहारभाष्यम्

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते (ई.उ.11)

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते (ई.उ.14)

इति श्रुत्वा केचित् संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्म- विद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्त्वञ्च। ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः ।

सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्र- प्रमाणकत्वात्। यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपासनञ्च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि। यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव वाध्यते ''ऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति। एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः। न ''दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या'' (क.उ.1/2/4)इति श्रुतेः। विद्यां चाविद्यां चेति वचनादविरोध इति चेत्? न, हेतुस्वरूप फलविरोधात्। विद्याविद्याविरोधाविरोध योर्विकल्पासम्भवात समुच्चय विधानादविरोध एवेति चेन्न, सहसम्भवानुपपत्तेः। क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेन्न विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्त्वात् तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरूष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्यायाः उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा। यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यत इति शोक मोहाद्य सम्भव श्रुतेः अविद्याऽसम्भवात् तदुपादानस्य कर्मणोप्यनुपपत्तिमवोचाम्। अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादि याचनमनुपपन्नं स्यात् तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते॥

इति श्री गोविन्दभगवत्पूज्यशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्री शंकरभगवतः कृतावीशावास्योपनिषद् भाष्यं सम्पूर्णम्॥

॥ इति वाजसनेय संहितोपनिषसम्पूर्णा ॥

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

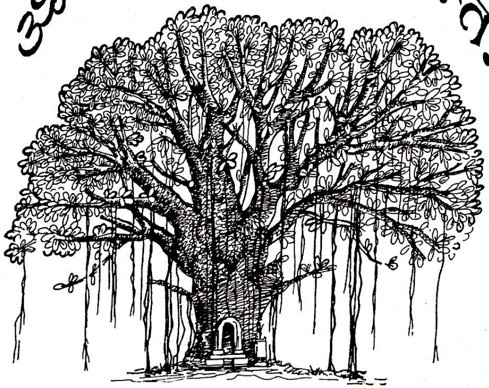

परिशिष्ट - 1

ईशावास्योपनिषदन्तर्गतानां मन्त्राणांवर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकः	मन्त्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः
असुर्यानाम ते लोकाः	3	
अनेजदेकं मनसो जवीयः	4	
अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्याम्	9	
अन्य देवाहु र्विद्ययान्यदाहुः	10	
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिम्	12	
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुः	13	
अग्ने नय सुपथा राये	18	
ईशावास्यमिदं सर्वम्	1	
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	2	
तदेजति तन्नैजति	5	
पूषन्ने कर्षे यम सूर्य	16	
यस्तु सर्वाणि भूतानि	6	
यस्मिन् सर्वाणि	7	
वायुरनिलममृतमथेदम्	17	
विद्यां चाविद्यां च	11	
स पर्यगाच्छुक्रमकाय	8	
सम्भूतिं च विनाशं च	14	
हिरण्मयेन पात्रेण	15	

परिशिष्ट - 2

काण्वशाखीया

॥ ईशावास्योपनिषद् ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यतें ॥

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥1॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥2॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥3॥

अनेजदेकं मनसो जीवयो नैनद्देवा आप्नुवन पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपोमातरिश्वादधाति ॥4॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥5॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥6॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥7॥

स पर्यगाच्छुक्र मकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥8॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥9॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥10॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तेद्वेदो भयं सह ।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥11॥

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥12॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥13॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या मृतमश्नुते ॥14॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नापवृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥15॥

पूषन्नेकर्षि यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन समूह ।
तेजोयत्ते रूपं कयाणतमं तत्ते पश्यामि ॥16॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर क्रतं स्मर ॥17॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानिविद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनोभूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥18॥

॥ इति वाजसनेय संहितोपनिषत्सम्पूर्णा ॥

परिशिष्ट - 3

माध्यन्दिनशाखीया

॥ ईशावास्योपनिषद् ॥

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन व्यक्तेन भुञ्जीया मागृधः कस्यस्विद् धनम् ॥1॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वपि नान्यथेऽतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥2॥

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥3॥

अनेजदेकं मनसोजीवयो नैनद्देवा आप्नुवनपूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपोमातरिश्वा दधाति ॥4॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥5॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥6॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकएकत्वमनु पश्यतः ॥7॥

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीश्यः समाभ्यः ॥8॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये-ऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥9॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥10॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदो भयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥11॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥12॥

अन्यदेवाहुर्विद्यायाः अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥13॥

विद्यां चाविद्या च यस्तद्वेदो भयं स्वाहा ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥14॥

वायुरनिल ममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर क्लिवेस्मर कृतं स्मर ॥15॥

अग्नेनय सुपथा राये अस्मान् विश्वानिदेववयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्माज्जुहुराणमेनो भूपिष्ठां ते नम उक्ति विधेम ॥16॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्पापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥

ॐ खं ब्रह्म ॥17॥

वशिष्ठ गोत्रोद्भवेन पं. श्री पोथीरामवाशिष्ठात्मज
हरस्वरूप वाशिष्ठेन कृतायां "कीर्ति" नामाख्यसंस्कृत-
हिन्दीव्याख्यायां शुक्लयजुर्वेदीया काण्वशाखीया
ईशावास्योपनिषद्
सम्पूर्णा ।

DESHBANDHU COLLEGE LIBRARY Kalkaji, New Delhi-19
93387